ओ३म्

आर्य संसार

वार्षिक - विशेषाङ्क

पौष
२०२७

●

दिसम्बर
१९७०

●

सम्पादक :
उमाकान्त उपाध्याय, एम० ए०

●

मूल्य :—
इस अंक का १ रु०
वार्षिक २ रु०

महर्षि दयानन्द
की
देन

●

निबन्ध प्रस्तुति

* श्री स्वामी समर्पणानन्दजी सरस्वती
* श्री जा० पी० भट्टाचार्य
* श्री जयदेव एम० ए०
* श्री भवानीलाल भारतीय, एम० ए०, पी० एच० डी०
* श्री सुमेधा मित्र
* श्री चन्द्रप्रकाश आर्य एम० ए०
* शान्ति देवीजी शर्मा

●

आर्य-समाज कलकत्ता
१९, विधान सरणी,
कलकत्ता-६

प्रकाशकीय

तीन वर्ष पूर्व आर्य समाज कलकत्ता ने "महर्षि दयानन्द की देन" विषय पर एक सहस्र रुपये के पुरस्कार की घोषणा करके निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया था। इस प्रतियोगिता में हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं में निबन्ध स्वीकार किये गये थे। अखिल भारतीय स्तर के उच्च कोटि के विद्वानों ने भाग लिया। आर्य समाज की अन्तरङ्ग सभा ने निम्नलिखित विद्वानों से निर्णायक बनने का अनुरोध किया :—

हिन्दी तथा अंग्रेजी के लिए—

डा० सत्यप्रकाशजी डी० एस० सी०
पं० सुखदेवजी विद्यावाचस्पति
प्रो० उमाकान्तजी उपाध्याय एम० ए०

बंगला के लिए—

श्री पं० दीनबन्धुजी वेद शास्त्री
डा० बुद्धदेव भट्टाचाय एम० ए० डी० फिल०
प्रो० उमाकान्तजी उपाध्याय एम० ए०

इन विद्वानों ने सानुग्रह इस भार को स्वीकार कर लिया। इनका निर्णय निम्न प्रकार था :—

श्री जी० पी० भट्टाचार्य	प्रथम
श्री स्वामी समर्पणानन्दजी सरस्वीती	द्वितीय
प्रो० जयदेवजी एम० ए०	"
श्री शान्तिदेवीजी	तृतीय

इस विशेषांक में इन पुरस्कृत निबन्धों के साथ कुछ अन्य प्रतियोगी निबन्ध भी प्रकाशित किये जा रहे हैं।

हम एतद्द्वारा सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को आभार ज्ञापन कर रहे हैं—

—प्रकाशक

ओ३म्

महर्षि दयानन्द की देन

१

स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती

प्रस्तुत निबन्ध के सम्बन्ध में हमारे एक सम्माननीय निर्णायक महोदय ने लिखा था :

"स्वामी समर्पणानन्दजी आर्य-जगत् के लब्ध-प्रतिष्ठ संन्यासी हैं। उनका लेख अपनी विशिष्ट शैली पर है। उसे औरों के तारतम्य में आँकना शोभा नहीं देता।"

दूसरे सम्मान्य निर्णायक महोदय ने लिखा था :

"स्वामीजी (स्वामी समर्पणानन्दजी) अपने ढंग के निराले विद्वान्, अद्भुत प्रतिभा के संन्यासी हैं। यह प्रतियोगिता की श्रेणी से ऊपर का लेख है।"

हम भी इस निबन्ध को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का लोभ संवरण नहीं करना चाहते।

— सम्पादक

साधारण से साधारण अनपढ़ मनुष्य से लेकर आइन्स्टीन सरीखे मौलिक विज्ञान वेत्ता तक के प्रातः काल उठते ही आँख खुलने पर जो सबसे पहला प्रश्न हृदय में उठता है वह इस विश्व की पहेली है। यह क्या है ? मैं कौन हूँ ? मेरा लक्ष्य क्या है ? मेरा इस संसार से क्या सम्बन्ध है ? यह सबसे बड़ी पहेली है। यह पहेलियों की पहेली है। इसका उत्तर दो अद्वैतवादी देते हैं। एक द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवादी दूसरे द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी। एक कहता है कि यह सब कुछ आत्मा ही आत्मा है, दूसरा कहता है यह सब कुछ जड़ प्रकृति ही प्रकृति है। साधारण अनपढ़ मनुष्य से लेकर बड़े से बड़े कर्मयोगी महात्मा तक सब के लिये विश्व की पहेली का यह विचित्र समाधान पहेलियों की पहेली है। उसे यह समझ नहीं

आता कि अद्वैत में से द्वन्द्व कैसे पैदा हो गया? चेतन में से जड अथवा जड में से चेतन का विकास कैसे हो गया? वह कहता है कि कैसे हो गया? वैज्ञानिक देवता सिर हिला कर पाण्डित्य से लदी मुद्रा में कहता है—

'अजी बको मत, सिर मत खाओ। कह तो दिया कि बस हो गया।'

साधारण पुरुष कबीर के स्वर में स्वर मिलाकर कहता है तुम पढ़े हुओं से हम बेपढ़े अच्छे :

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े से पण्डित होय॥

इसी बात को विद्वन्मूर्धन्य कृष्ण वार्ष्णेय कृष्ण द्वैपायन के मुख से इन शब्दों में कहता है अथवा कृष्ण द्वैपायन कृष्ण वार्ष्णेय के मुख से इस प्रकार कहलाता है—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरउच्यते,

× × ×

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः,
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रार्थतः पुरुषोत्तमः।

सब प्राणियों का देह तथा पञ्चभूतमय जड जगत् है। जगत् अर्थात् जड परिवर्तनशील जगत् है। प्राणियों में जीवात्मा कूटस्थ है जिसके आधार पर स्मृति खड़ी है।

इस क्षर तथा अक्षर (जीवात्मा) दोनों से ऊपर पुरुषोत्तम है।

इसमें व्याकरण का उत्तम पुरुष और जोड़ दीजिये, क्योंकि ज्ञाता होने की दृष्टि से 'मैं' का स्थान सबसे उत्तम है। परमात्मा तथा प्रकृति दोनों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्रमाण करने वाला प्रमाता, तथा जिन कर्मों का फल भगवान् देता है उनका कर्ता तो मैं ही हूँ। प्रकृति तथा पुरुषोत्तम तो प्रमेय अथवा उपास्य मात्र हैं। इस दृष्टि से पुरुषोत्तम को पुरुषोत्तम कहने वाला उत्तम पुरुष तो मैं ही हूँ।

इसलिये भगवान् ने उत्तम पुरुष के मुख से कहलाया -

योऽसा वादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्,

मेरी सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर की दुनिया छोटी सी ही सही, परन्तु जिस प्रकार आदित्यादि लोकों में अधिष्ठाता होकर बसा है, इसी प्रकार अपनी छोटी सी दुनियाँ में मैं वही हूँ जो तू अपने इस आदित्य (उपलक्षण=आदित्यादिमय ब्रह्माण्ड) में है। अर्थात् अधिष्ठाता, निर्माता, प्रमाता।

इसीलिये भक्त भक्ति के आवेश में विभोर होकर कहता है तेरे आशीर्वाद तो तबही फलेंगे कि या तो मैं समर्पण द्वारा तू अर्थात्, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शक्तियों का अधिष्ठाता बन जाऊँ अथवा तू वात्सल्यातिरेक में मेरे समर्पण को इतना स्वीकार कर ले कि मैं जो कुछ करूँ त्वन्मय होकर करूँ। या तो सर्वभूत हितकर भक्तियोग के बल से मैं सर्व शक्तिमान् बन जाऊँ अथवा समर्पण की पराकाष्ठा से वात्सल्य विभोर होकर तू मन्मय हो जा। तबही जानूँ कि हमारे मुह मांगे आशीर्वाद मिल गये। सुनिये वेद क्या कहता है—

यदग्ने स्यामहम् त्वं त्वं वा घास्याअहम्
स्युष्टे सत्या इहाशिषः

ऋ० ८-४४-२३

मैं हूँ, यह सर्वोत्तम ज्ञान है इसीलिये मैं उत्तम पुरुष है। मैं धोखा नहीं सचमुच की जीवित जागृत शाश्वत चेतना शक्ति हूँ। छोटा ही सही पर हूं! सचमुच हूँ जबरदस्त, जोरदार, सनातन सत्ता हूँ! और कुछ करके रहूँगा। या तो मैं कर्मयोग द्वारा वहाँ चढ़ जाऊंगा, या समर्पण योग द्वारा, जैसे दर्पण सूर्य को अपने में उतार लेता है, इस प्रकार उसे अपने में उतार लूगा। वह आशीर्वाद देनेवाला, मैं लेने वाला; या तो मैं लेके रहूँगा, या उसे देना पड़ेगा। कुछ कहलो बात एक ही है।

यह सीधा, सच्चा, सबकी समझ में आ जानेवाला, ब्रह्माण्ड की पहेली का निर्मल, उज्ज्वल प्रकाशमय, शान्तिमय, समाधान, इसका नाम है "त्रैतवाद", यह है दयानन्द की सबसे पहली देन। यह है परमात्मा का विष्णुरूप अर्थात् यज्ञरूप। यज्ञ का अर्थ है पूजक तथा पूज्य का पूजा साधन द्वारा सङ्गतिकरण। सो अद्वैत में संगतिकरण कैसा? यह है—

विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषम्।

(यजु० ९-३१)

यह है त्रेताऽग्नि, यह है पिता पुत्र सन्तान द्वारा सबसे छोटे पारिवारिक संगठन का मूल रूप।

ऋषि दयानन्द कहते हैं अनादि पदार्थ तीन हैं—एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं।

स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश ६

सो मैं हूँ। 'वह बड़ा इन्द्र है, मैं छोटा इन्द्र हूँ' पर जब मुझे इन्द्रिय मिली है तो मैं इन्द्रियों का इन्द्र हूँ तथा इनके द्वारा इस पृथिवी के अन्त तक और सच पूछो तो पृथिवियों की पृथिवी प्रकृति के अन्त तक, जहाँ भी अपने कर्म यज्ञ की वेदी बना लूं, वहाँ का मैं ही राजा हूँ और मेरे लिये वह छोटा-सा यज्ञ ही संसार का केन्द्र है। शंकर के चेले कहते हैं 'तू परमात्मा है", मैं कहता हूँ 'मुझे झूठ बोलना न सिखाइये।" "महाराज" वे कहते हैं, "अरे! झूठ बिना संसार का व्यवहार नहीं चलता"।

मैं हाथ जोड़ के कहता हूँ, परिस्थितिवादी कहते हैं कि "तू जड़ पदार्थ है और परिस्थितियों की कठपुतली है", मैं कहता हूँ, "धत् परे हट, जड़ होगा तू, मैं तो पूर्णतया चेतन हूँ। यह सारी पृथिवी मेरे बाप की दी हुई जायदाद है, जहाँ चाहूँ अपनी वेदि बनाऊँ, वही मेरा विश्व केन्द्र है। जब मैं पिता से विमुख होता हूँ तो मुझ में जड़ता आती है। पर जब मैं पिता की आज्ञा का यथावत् पालन करता हूँ तो बस फिर क्या पूछना ?"

इयंवेदिः परोअन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः

ऋग्वेद १, १६४, ३५

मैं परिस्थितियों का पुतला नहीं। पिता मेरी पीठ पर है, लक्ष्य सामने है, परिस्थितियों को चीरता हुआ अन्त को उससे जा मिलूंगा। मैं केन्द्र हूँ, परिस्थितियों के घेरे को चीरने के लिये पैदा हुआ हूँ। लक्ष्य है चार धाम की यात्रा द्वारा सारे मार्ग को आनन्द की धाराओं से आर्द्र करता इन्द्र तक पहुँचूँ। वह कह रहा है—

इन्द्रायेन्दो परिस्रव

मेरे चान्द, मेरे इन्दो, चारों ओर आर्द्रता पैदा करता हुआ प्रवाहित हो और मेरी गोद में आजा।

जहाँ सब से कठोर हिंसक हों, वहाँ आर्द्रता पैदा करता हुआ आ।

शर्यणावति सोमयिन्द्रः पिबतु वृत्रहा
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यम्
महद्दिन्द्रायेन्दो परिस्रव

ऋग्वेद ९-११३-१

इस यात्रा में चार धाम हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः। ऋ० १९०, ३

चौथा धाम स्वः है और पहिले तीन स्वर्ग।

यजु० १३-३१

इस तुरीय धाम की कथा ऋग्वेद ९वम् मण्डल ९६ सूक्त १९ मन्त्र से आरम्भ होती है। ११३ सूक्त में कहा है यह तुरीय धाम वह लोक है, जहाँ परम सुख सुरक्षित धरा है।

यस्मिन्लोके स्वर्हितम्।

ऋ० ९, ११३-७

जब मैं आया उस दिन सबकी आँखों में आनन्दाश्रु थे। सब ने मुझे कहा इन्दो, फिर शैशव में इन्दु था ही। फिर दो इन्दु एक होकर इस रथ के पहिये बने। यात्रा आगे बढ़ी। जब मेरा घर इन्दुशाला बन गया मैंने और मेरी पत्नी ने कहा 'चलो अब संसार भरके इन्दुओं को अपने इन्दु मानने का अभ्यास करने चलें।' पुत्र और पुत्र-वधू को अपनी इन्दु शाला से खेलने को छोड़ कर हम आगे बढ़ लिये—एक पहुँचे हुए के पास पहुँचना सीखना आरम्भ किया। अब पराए इन्दु मुझे अपने इन्दु लगते थे, मेरा मन उधर फँसने लगा। पहुँचे हुए ने कहा, सोम्य आगे बढ़, मैंने कहा कहाँ जाऊँ ?

कुलपतिजी बोले—

इन्द्रायेन्दो परिस्रव

इस तृतीय धाम में तप और श्रद्धा का उपार्जन किया है। अब यह तुम्हारा तृतीय सवन हो लिया। इस बार तुम श्रद्धा रस में भट्टी पर चढ़ाये गये हो—

ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा
सुत इन्द्रायेन्दो परिस्रव

ऋ० ९-११३-२

अब तो मंजिल पर पहुँच गए, अब फँसो मत यह सूर्य की दुहिता श्रद्धा—

श्रद्धावै सूयस्य दुहिता

शतपथ १२. ७. ३. ११

तुझे यहाँ तक ले आई। ऊपर से धर्ममेघसमाधि में स्नान किया इस प्रकार प्रभु कृपा की जलधारा तथा प्रत्यक्ष दर्शन जन्य श्रद्धा की धूप में बढ़ कर यहाँ पहुँच गया। अब अटका तो भटका। तेरी किस्मत भी क्या कहेगी? प्रभु का गुण गान करने वालों ने तेरा स्वागत किया। उनसे तू और रसीला हुआ। किस्मत की खूबी देखिये—

टूटी कहाँ कमन्द? दो चार हाथ जब कि लबेबाम रह गया। इसलिये —

पर्जन्यवृद्धम् महिषम् तं सूर्यस्य दुहिता भरत्।
तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन् तम् सोमे रसमादधुः
इन्द्रायेन्दो परिस्रव।

ऋ० ९-११३-३

जिस कुलपति के पास तू परिष्कृत होने आया था उसने तेरा परिष्कार कर दिया। अबतो—

ऋतंवदम् ऋत द्युम्न सत्यम् वदन् सत्यकर्मन्
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत
इन्द्रायेन्दो परिस्रव।

ऋग्वेद ९-११३-४

नपी तुली प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध सत्य ज्ञानमय बात बोलता हुआ उस ज्ञान को ही अपना सर्वस्व समझ कर लुटाता हुआ ईमानदारी से निष्कपट होकर बोलता हुआ, और उस सत्य वचन को कर्म में परिणत करता हुआ, सब में अपनी अनुभव जन्य श्रद्धा की बात कहता हुआ—

बहे चल मेरे रस भरे चन्दा।

देख भूलना नहीं! प्रभु का गान करने वालों ने जो रस तुम में भरा है उसका नाम वीर रस है। कहीं दब कर उस रस में विष न मिला देना। रसीले! यह उग्ररस है, और तू फव्वारा—

सत्य मुग्रस्य वृहतः सं स्रवन्ति सं स्रवाः
सं यन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर
इन्द्रायेन्दो परिस्रव

ऋ० ९-११३-५

यह उग्ररस असत्य की शिलाओं तक को फोड़ कर निकलना जानता है। यह वृहत् रस है सबको ऊंचा उठाने वाला है उसके सामने झुकना सीख। पर, दुष्टों के साथ अकड़ना भी सीख। इसके सोते चारों ओर फूट निकलते हैं तब वीररस के रसिक जानते हैं, कि आज कौन रसीला आया है। इसलिये सदा रसिको, हरियाली के तुल्य मन हरने वाले, अपने वेद ज्ञान के प्रवाहों से सबको पवित्र करता हुआ बहता चल! मेरे रस भरे चन्दा।

तर्क को धर्म गुरुओं ने गाली दी है। ऋषि दयानन्द की अद्भुत देन है "तर्क को उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करना" वेद कहता है। चक्षोः सूर्यो अजायत (पुरुष सूक्त १२ मन्त्र) चक्षु आदि इन्द्रियों से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान ही तो वह सूर्य है जिसकी पुत्री श्रद्धा है। दयानन्द ने हमें तर्क की प्रतिष्ठा सिखाई और उसकी पुत्री श्रद्धा को भी उचित स्थान दिया इसलिये नपीतुली प्रत्यक्षादि प्रमाण विरुद्ध बात मत कह—

यत्र ब्रह्मापवमान छन्दस्यां वाचं वदन्।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दम्
जनयन्निन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

ऋ० ९-११३-६

जहाँ चार वेदों के ज्ञाता विद्वान् सबको पवित्र करते हों, उस पवित्र सत्सङ्ग रूप सवन में नपीतुली बात बोलता हुआ, विद्वज्जनों के वाद संघर्ष में पीस कर यथार्थ परीक्षा पूर्वक

निकाले हुए ज्ञान रस से सबके लिये आनन्द उत्पन्न करता हुआ, बहता चल मेरे रस भरे इन्दो।

जहाँ अन्ध विश्वास का नाम नहीं है—

यत्रज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम्
तस्मिन् मांधेहि पवनामृते लोके अक्षित
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ७ ॥

हे पवमान हम भक्त जन तेरे पास आए हैं विशेष कर मैं शिष्य होकर तेरे पास आया हूँ। मुझे उस लोक में पहुँचा जहाँ निरन्तर ज्योति जलती है, जहाँ नित्य आनन्द है। उस अक्षय अमृत के धाम में मुझे पहुँचा।

जहाँ वह सुव्यवस्था है जो आकाश में सौर मण्डल में देखने में आती है जहाँ द्यौः को प्राणायामादि द्वारा बाह्य आकाश से उतार कर मनुष्य अपने अन्दर रोक लेते हैं यह सम्पूर्ण मानव प्रजा (मनुष्य वा आपः-शत ७-३-१-२०) जिस ओर बह रही हैं हे पवमान उस अमृत धाम में मुझे भी पहुँचा

इन्द्रायेन्दो परिस्रवः ॥ ८ ॥

जिस कैवल्य में मनुष्य परम ज्योति के स्वरूप में अवस्थित होता है, इसलिये जहाँ सब लोग ज्योतिष्मान् हैं जहाँ शरीर बन्धन न होने के कारण जीव स्वच्छन्द विचरते हैं उस धाम में मुझे भी मृत्यु रहित करदे।

इन्द्रायेन्दो परिस्रवः ॥ ९ ॥

जहाँ कामनाएं और उनके निमित्त किये जाने वाले नियम सब सम्पूर्ण हो जाते हैं, जहाँ बड़ों से बड़े परमात्मा का धाम है। उस प्रभु प्रेम के बन्धन को मेरे लिये अमृत कर दो हे इन्दो—

इन्द्रायेन्दो परिस्रवः ॥ १० ॥

यत्रानन्दाश्चय मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र मा मृतं कृधि
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ १० ॥

जहाँ मानसिक और शारीरिक आनन्द दूसरों के साथ बातचीत का आनन्द तथा नाना प्रकार की कला कृतियों का प्रमोद सब इकट्ठे बसते हैं, जहाँ कामना की भी सब कामनाएं पूर्ण हो जाती है, उस प्रभु प्राप्ति के आनन्द में स्नान कराके मुझे भी मृत्यु भय रहित कर दे।

इन्द्रायेन्दो परिस्रवः ॥ ११ ॥

इस तर्क बुद्धि के सहारे ऋषि दयानन्द हमें दोनों ओर की खन्दकों से बचाता हुआ ले चलता है। न तो यहाँ अन्ध श्रद्धा है, न नास्तिकता। न तो अकर्मण्य भक्तिवाद है, न भक्तिहीन कर्मयोग। न तो तर्कहीन श्रद्धा है, न श्रद्धाहीन तर्क अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव को भी निषेध करनेवाला तर्क। न तो पलायनवादी वैराग्य है, न पलायनवादी विषय शक्ति। न तो अनन्त नरक है, न अनन्त मोक्ष। यह मनुष्य जीवन है, स्वर्ग नरक धाम है। यह जीवन ही कर्म भूमि है। राजयोग भक्तियोग सब कर्मयोग के साधन हैं। न वैष्णवों का रङ्गीलापन है, न नास्तिकों की रूक्षता। न जैनों की अहिंसा है, न कम्यूनिस्टों की हिंसा। न तो हिंसा रस के लिये हिंसा है, न लोक कल्याण विघातिनी अहिंसा। लक्ष्य सामने है—

इन्द्रायेन्दो परिस्रवः

साधन हैं इन्द्रियें तथा जीवन का समय। साधन है वर्णाश्रम व्यवस्था। इस व्यवस्था में न तो पूंजीवादी अर्थतंत्रता है, न कम्यूनिस्ट व्यक्तित्व नाशिनी परतंत्रता। लोक कल्याणकारी कार्य करना पड़ेगा, यह परतन्त्रता है। अविद्या अभाव अन्याय, अकर्मण्यता, किस शत्रु से लड़ना है। इस चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्रता। यह अविचलित रूप से सीधा लक्ष्य की ओर ले जाने वाला सीधा मार्ग ही ऋषि की सर्वश्रेष्ठ देन है। न तो प्राचीन हर बात अच्छी है और न वेदों तक का परित्याग है। न देश मोह है, न देश द्रोह है। देश भक्ति है पर वह विश्व कल्याण का मार्ग बनाने वाली देश भक्ति है। दूसरे देशों को कुचल कर अपने देश का भला चाहने वाली स्वार्थमय क्रूर देश भक्ति नहीं जिसका ठीक नाम देश मोह है। हाँ दबाव में आकर अपने देश के जूते का भी अपमान वह सह नहीं सकता था।

मनुष्य के जन्म से लेकर मरण पर्यन्त तथा परिवार के संगठन से लेकर चक्रवर्ती सार्वभौम महाराज्य सभा के निर्माण तक कोई विषय उस ऋषि से नहीं छूटा इसलिये यदि उसकी सब देन एक शब्द में कहनी हो तो वह सत्यार्थप्रकाश है।

परन्तु इन सब देनों से बड़ी देन ऋषि का जीवन स्वयम् है। जो कहा सो करके दिखा दिया। खण्डन में स्वदेश विदेश किसी का पक्षपात नहीं किया। राष्ट्र तथा धर्म के विरोध में लड़ने के लिये सम्पूर्ण राष्ट्र को तय्यार किया। देश की एकता के निमित्त गुजराती का पक्षपात छोड़कर हिन्दी को अपनाया। परन्तु आर्य समाज के नियम बनाने के समय छठे नियम में स्पष्ट लिख दिया "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।" गौण रूप से बचा खुचा समय विश्व कल्याण को, मुख्य उद्देश्य ऋषि दयानन्द ने ही बनाकर दिखाया।

परन्तु व्यक्तिगत रूप से जो उन्हें विष देने आया उसे मुक्त करवाते समय कहा "मैं संसार को कारागार में बन्द करने नहीं आया किन्तु कारागार से छुड़ाने अब आया हूँ" और अन्त में १३वीं बार विष खाकर विष देनेवाले को दयार्द्र होकर धन देकर विदा किया और दयानन्द इस नाम को सार्थक किया।

अन्तमें मृत्यु काल में सबसे बड़ी परीक्षा थी। इस मृत्यु ने गुरुदत्त सरीखे नास्तिक में भक्तिरस का संचार कर दिया। इसे मृत्यु कहें या जीवन शक्ति का स्रोत। ग्रन्थ भी देन, जीवन भी देन, और अन्त में मृत्यु भी देन।

देनेवाले बहुत देखे, पर ऐसा दिलदार नहीं देखा। वैदिक भाषा में देवता कहते हैं देनेवाले को, बस वह देवताओं का देवता था। कोई वस्त्र दाता, कोई धन दाता, कोई अन्न दाता, परन्तु ऋषि दयानन्द ने इस अभागे मानव समाज को उस की खोई हुई आत्मा फिर प्रदान की।

इसलिये, आत्मदा! तुझे बार बार प्रणाम हो!!

CONTRIBUTIONS OF MAHARSHI DAYANANDA

२

G. P. BHATTACHARJEE
Lecturer, International Relations Dept.,
Jadavpur University.

Historical Setting

Historical research has indisputably proved the existence of a highly developed civilization in India during the Vedic age. Due to various factors, not yet clearly explained by scholars, a process of decline set in in the Vedic civilization. During this period of social stagnation and spiritual decay various creeds and doctrines challenging the foundation of the vedic civilization arose. Meanwhile, overrun by the forces of Islam, India entered into a period of political uncertainty and social conflict. Though during this time there were a number of attempts for religious rejuvenation and reconciliation of various creeds, they remained confined to specific areas and attained very limited success. The old Vedic civilization remained burried under the debris of the past.

The British conquest of India later on brought about a new vigour and dynamism in the social, political and intellectual life of India. India was not only politically and economically unified but she also came in contact with the Western science, technology and ideas. Along with this current of western culture the past and almost forgotten civilization of India was also revived from oblivion by a galaxy of scholars, both western and Indian, through their researches on Indian antiquities. The interaction of these two cultural forces

one, rational, secular and science-oriented, imported from the west, and the other, spiritual and transcendental, revived from the past heritage of India, stirred an intellectual fermentation in the country and produced what is known as the Nineteenth Century Renaissance. This Renaissance was a multi-dimensional cultural movement and it connotes different, sometimes contradictory, thought-currents. One section of the people, extremely orthodox in character, however remained outside the influence of this Renaissance and tried to preserve the conventional customs and institutions. Another section was carried off their feet by the invigorating influence of the western ideas and they looked at the past calture of India with unconcealed disdain. The more sober section tried to bring about a reconciliation between the past heritage of India and the western science and technology.

India produced two outstanding personalities, one the eastern side and another on the western, to lead this school of reconciliation. Broadly speaking, Raja Rammohan Roy of Bengal and Maharshi Dayananda Saraswati of Gujarat belong to the same school. The difference between them was more one of degree and emphasis rather than fundamental. Raja Rammohan was a great scholar and knew a number of languages, both western and Indian, including Sanskrit. In those days a number of outstanding scholars came to India from England and the English language was making steady highway in the country. The age was in dire need of a man capable of interpreting the language of the vedic texts in its original and uncorrupted from. The Pandits of the age interpreted the Vedas in the light of the Puranic mythological stories. Their interpretation could not give a clear idea of the Indian civilization as developed in the Vedic age. The European Scholars learned Sanskrit from these Pandits and necessarily their veiws were also coloured by the interpretation made by them. It was Maharshi Dayananda who with extra-ordinary insight tried to liberate his outlook from the ballast of the Puranic stories and interpreted the Vedic texts in the literal sense. *His interpretation opened up a new vista about the nature of the Vedic civilization. Here in lies the*

basic role of Maharshi Dayananda in the nineteenth century cultural history of India. His contributions must be judged in the light of historical context and the specific historical need which he satisfied.

Brief life-sketch— three phases of his life :

Born in 1824 in an orthodox Brahmin family of Morvi state in Kathiawar, Gujrat, Dayananda[1] developed a deep interest in religion in his young age. While still in his teens he lost his faith in the traditional practice of the Hindu religion and realised the futility and dangers of institutions like image-worship and polytheism. His unconventional ideas brought him in conflict with his father and Dayananda left the house of his father as the latter tried to force upon him a marriage when he was only twenty years of age. The career of Dayananda now entered into the second chapter. He broke off all relations with his home and took the life of an ascetic. He wandered on foot all over India and saw the details of the Hindu Society with his own eyes. This wide experience produced a rich harvest in the fertile soil of his mind irrigated by deep study and meditation. In 1860 he began studies under Swami Virajanand Saraswati at Mathura and continued it for two and a half years. In 1834 he started public preaching and thus entered into the third phase of his career. In his public preaching he, at first, used only the Sanskrit language which could not be understood by the broad mass of the Indian people. He, therefore, later on started preaching in vernacular. On April 10, 1875 he first established the Arya Samaj in Bombay. In 1877 the constitution of the Arya Samaj was finally prepared at Lahore. Dayananda was now fully absorbed in his mission of preaching the new gospel. He wrote a number of books, the most significant being Satyartha Prakash explaining his ideas and tried to organise people under the banner of the Arya Samaj. His mission proved very successful in the Western part of the country—Gujrat, the Punjab, U. P., and Rajasthan. On October 30, 1883, the earthly existence of the Maharshi came to an end.

Basic approach of Dayananda to Indian problems :

A man of iron will and versatile

1. His real name was Mul Shankar.

genius Dayananda left a deep impression upon the history of India. He gave the Indian people a new direction as well as a new dynamism and enriched diverse fields of our national life. An attempt may be made to assess his many-sided contributions by dividing them into three groups, namely, religious, social and political. This. division must not be taken in any rigid sense because his contributions to various fields were closely interrelated. He looked with dismay at the conversion of the Hindus to Christianity by the missionaries in the wake of the political subjugation of the country. The superstitions and evil practices existing in the Hindu community gave the Christian missionaries an opportunity to carry on their work of conversion successfully. Dayananda could not lend his support to the various evil practices in the Hindu society which, he found, were eating into the vitals of the Hindu civilization. India or Aryavarta, the land of the Vedic civilization, he feared, might loss her identity as a result of political subjugation and other evils. What was her political subjugation due to ? According to him the subjugation of India was due "to mutual feud, differences in religion, want of purity in life, lack of education, child marriage, ... indulgence in carnal gratification, untruthfulness and other evil habits.[2]" Social degeneration, in his view, was the cause of political subjugation. Political liberation, therefore, he thought, was conditional upon the removal of the social evils. And what was the basic cause of social evils among the people of Aryavarta ? It was due to their deviation from the original Vedic civilization. Restoration of original Vedic civilization, therefore, was the only remedy to all the social evils among the Hindus. Thus, in the eye of Dayananda, political liberation, social reform and revival of the Vedic Culture were causally connected. Restoration of Vedic civilization would lead to social reforms and prepare the country for political freedom. Thus in Dayananda we find a religious preacher, a social reformer and a political prophet combined in one. Though we shall discuss his contributions under three separate sections still this integrating factor must not be lost sight of.

2 Satyartha Prakash. Quated in V. P. Varma, Modern Indian Political Thought, P. 60.

Religious Reforms :

Swami Dayananda was an out-and-out religious man and he became an ascetic. His asceticism did not however lead him to ignore the society and go into seclusion for salvation of the soul. With a spirit of complete detachment he lived in society and worked for society.

Swami Dayananda found that the Hindu society of his time was entirely different from the Hindu society of the Vedic period. Supperstitious customs and institutions were maintained by the people in the name of the Hindu religion though they had no sanction in the Vedas. Polytheism, idolatry, untouchability etc. were regarded as essential features of Hinduism but none of them, he found, could be justified by the Vedic standard. He saw that a large number of people, repelled by the superstitous Hindu practices, were attracted towards Christianity. He tried to arrest this process by showing to the people the real character of the Vedic religion.

The degeneration of the Hindu civilization, Swami Dayananda analysed, started with the religious system of the Puranas. The mythology of the Puranas, which is the latest development of the Hindu thought, was the basis of the popular Hindu religion but this mythology could not, he pointed out, claim any support either from the law books or the Vedas. The commentators on the Vedas who arose during the Puranic period however tried to find in the Vedas sanction for their own ideas. Thererore, they interpreted the Vedas in their own way. Men like Sayana and Mahidhar belonged to this class of commentators. They belonged to what is usually called the mythological school of interpretation of the Vedas. They interpreted the Vedas to justify the Puranic mythology and thus they tried to give the present degenerate popular Hindu religion a Vedic sanction. The western scholars accepted these commentaries as authoritative and so their interpretation of the Vedas was also influenced by the writings of Sayana and Mahidhar and others of this school. Dayananda tried to interpret the Vedas on the basis of original texts without being influenced by the works of the commentators of the later age.

It is accepted by all that Yaska, the author of Nirukta, is the highest authority on the interpretation of the Vedas. He is quoted with respect by Sayana and Mahidhar also. Swami Dayananda tried to interpret the Vedas on the basis of the principles laid down by Yaska in his Nirukta. According to Yaska all the terms in the Vedas have been used in their jougika derivative or sense. It implies that there cannot be any proper names or historical reference in them. Yaska may, therefore, be regarded as the founder of the etymological school of the interpretation of the Vedas (also known as Nairuktik school) as opposed to the mythological school (also called Aitihasik school). Swami Dayananda by following the etymological school gave the Vedic mantras a meaning entirely different from the traditional one. The terms like *Agni, Vayu, Surya, Akasa* etc. used in the Vedas do not, according to the etymological school, refer to particular deities presiding over different departments of nature. They are used in two senses. Sometimes they indicate physical objects and forces and sometimes they refer to the Supreme Being. One Supreme Being is referred to by various terms. Words like *Agni, Vayu, Surya, Soma* are used to describe the indescribable whom the Vedas term *Om.* The sense in which these terms are used whether in the sense of physical objects or to describe the indescribable Supreme Being is to be judged by the context alone. By explaining the various terms used in the Vedas in their etymological sense Dayananda gave a highly interesting interpretation of the Vedic hymns. Urvasi, as for example, according to him, does not mean the heavenly nymph and a celebrated beauty in Indra's court but lightning. The Vedic mantras which appear as silly stories to many contain, according to Dayananda's interpretation, truth of profound significance.

By following these principles Swami Dayananda interpreted the Vedas which gives us the picture of a highly developed and scientific civilization in ancient India. His interpretation is found in his famous book *Satyartha Prakash* which he wrote in Hindi. The first ten chapters of the book deal with the explanation of the Vedic teachings. In the eleventh chapter he explains the religion of

the Puranas and the Tantras which, according to him, is a clear deviation from the Vedic teachings. In the twelth chapter the Buddhist, Jain and Charvaka views are explained and commented upon. The atheistic views of these schools led to the decline and fall of the Indian civilization and therefore Dayananda thought the recrudescence of these ideas should be checked by all means. The Vedic Scholarship of Swami Dayananda is clearly revealed in this book and no one, whether he agrees with him or not, can read this book without admiring the analytical power and depth of learning of the author. The main purpose of the book is to inspire the people to reconstruct the Indian life on the model of the ancient Vedic society "by a pruning of all the engrafted shoots upon the Vedas."[3]

In the book Satyartha Prakash Swami Dayananda tried to establish the thesis that the Vedic religion was absolutely monotheistic in nature. In the Vedas there are hymns which assert the unity of God but at the same time there are passages where many divine beings or devatas are referred to. This has led many to conclude that Vedic religion was polytheism in character. Max Muller considered henotheism as the most appropriate term to explain the Vedic religion. By polytheism, he pointed out, we understood an organised system of Gods, each occupying different positions and ranks in the hierarchy, under the authority of one Supreme God—either a Zeus or a Jupiter. Under the Vedic system he found no such hierarchy of position among the gods, and, therefore, Max Muller preferred the term henotheism to explain the Vedic religious system. Swami Dayananda could not agree with these views. He contented that the Vedas refer to only one Supreme God though He was given a large number of names. As the attributes of God are innumerable so also the names given to Him. The terms like *Agni, Vayu, Surya* which occur in the Vedas do not, according to Dayananda, refer to different gods; they are different attributes of the same Almighty. Different namas which are given to the Almighty God are also names of different material objects, and the actual sense in which the terms are used must be judged, as we

3. MacDonald, *The Government of India*, p. 236.

have already pointed out, with reference to the context.

The interpretation of the Vedas as given by Dayananda appears to many as ridiculous. Some consider him to be a false interpretor of the Vedas. His interpretation is undoubtedly unconventional and it goes against the traditional faith and dogmas. But that is no reason why he should be dismissed summarily. His interpretation is based on a definite principle which he follows consistently. One should either show that the etymological principle of interpretation is itself wrong or that his interpretation is not justified by that principle. But no one has yet tried to cross sword with Dayananda on that level.

Social Reforms :

Along with his attempt to revive the original Vedic culture Dayananda tried to introduce a number of social reforms in the Hindu society. He found that a number of social practices among the Hindus which made the Hindu society vulnerable to the Christian attack had no Vedic sanction. He, therefore, tried to purge the Hindu society of these evils.

Dayananda was violently opposed to idolatry and brought as many as sixteen charges against it.[4] He raised his strong voice against the custom of traditional sacrifice and encouraged travels by the Hindus to foreign lands. Like Raja Rammohan Roy he stood for the emancipation of women. He found that contrary to the Vedic Principles a number of inhuman restrictions and taboos were imposed upon the Hindu women. He tried to remove these taboos and restrictions and championed the principal of equality of men and women. The system of child marriage was disapproved by him and no man below 25 and no woman below 16 should, in his opinion, be given in marrigge. He was a great advocate of female education and remarriage of widows.

Swamy Dayananda was opposed to the system of caste restriction in the form in which it existed the Hindu society. He however tried to revive the Vedic system of Varnashrama. According to the Vedic

4. For these charges see Swami Dayananda's *Satyartha Prakash.*

principles he thought that one's Varna should be determined not by birth but by capacities, psychological dispositions and actions. The society, according to him, should be divided into four castes only on this sound Vedic principle. He considered the innumerable castes and sub castes existing in the Hindu society on the hereditary basis as contrary to the fundamental spirit of the Vedic sociology. The system of untouchability as existed in the Hindu society was bitterly denounced by him and Mahatma Gandhi appreciating the outlook of Dayananda observed: "Among the many rich legacies that Swami Dayananda left to us, his unequivocal pronouncement against untouchability is undoubtedly one."

In the Suddhi movement Maharishi Dayananda introduced one revolutionary item in the programme of the Arya Samaj. He believed that 'lost' Hindus, that is the Hindus converted to other religions, should be brought back within the Hindu fold. This movement of re-Hinduising the fallen is known as the Suddhi movement. With Vedic liberalism and rationalism he believed that the door of Hinduism should not remain closed to those who once had left it for some reason or other.

Swami Dayananda tried to bring about a radical change in the educational system of our country. The system of education introduced into India by the British, whatever might be its advantages, had no relation with the past cultural heritage of the country. The products of this system became culturally alien to the general mass of the people. Swami Dayananda tried to change this system of education and he may rightly be considered as the precursor of the national system of education which became popular during the Swadeshi movement. He maintained that the people of India must study the old and uncorrupted culture of their land and for this purpose they must turn to Sanskrit and read the Vedas. The students must not simply acquire knowledge but also form their character and become good members of the community. The Dayananda Anglo-Vedic College was based upon the ideas of the Maharishi[5] and there, in addition

5. The split of the Arya Samaj inta two groups. one led by Lala Hans Raj and the other by Swami Sraddhananda (Munshi Ram) need not be discussed in this essay. It may however be men-

to the Sanskrit and the Vedas, English, Western Sciences, Western Philosophy, History etc. were also tought.[6] It is thus clear that Dayananda was not opposed to the study of Western science and the English language but he considered a thorough knowledge of the past Vedic culture of India and the Sanskrit language as essential for the national regeneration and social progress of India.

The Arya Samaj founded by Swami Dayananda is an important force in the social life of modern India. By constructive activities it has always been trying to lay the foundation of a new society in Aryavarta. Besides running a number of schools and colleges for both men and women, it has set up a number of orphanages and 'homes' for widows. The Samaj has its own depressed classes mission and it has raised thousands of downtrodden social pariahs to the status of higher classes. It has championed with steadfast devotion the cause of the emancipation of women and has brought comfort and happiness to a large number of child widows. The Samaj has also organised relief in times of social distress caused by natural calamities like famine and flood.[7]

Political reforms :

Swami Dayananda was not a political thinker in the technical sense of the term but a careful study of his views clearly reveals his political mind. He contributed immensely to the domain of political thought without himself being a politician. Thought a religious man par excellence he did not ignore the material side of human existence. No aspect of human life was alien to him and his mission was to bring the entire humah existence under the guidance of an all-pervading spiritual philosophy.

The most striking feature of his political philosophy that easily draws our attention is his contribution to the concept of nationalism. Nationalism in the modern sense is essentially a political concept but it draws its

tioned that the DAV College remained under the control of the first group and the latter group founded a new educational institution called the Gurkula near Hardwar.

6. Hans Kohn, *A History of Nationalism in the East*, p. 65.

7. See Introduction by Ghasi Ram to the Commentary on the Vedas by Swami Dayananda.
For a history of the Arya Samaj see the book of Lajpat Rai.

vitality from its cultural content. The British government by unifying the country through railways, telegraph, common laws and administration, created objective conditions for the rise of political nationalism. The role of Swami Dayanand was to introduce into this concept of nationalism a soul of its own. He tried to make the people proud of their own past Vedic culture by explaining to them its real nature and grandeur. The Oriental Scholars of the West did much to discover the past culture of India but they could not clearly differentiate the elements of pure Vedic culture from those of the decadent Puranic age. It was Swami Dayananda who first drew our attention to this vital aspect of the study of Indology. In this connection the observation of Dr. Mazumdar may appropriately be quoted. He writes : "In the seventies of the last century the religious prophets, like Sriramakrishna and Swami Dayananda, did much more than the Orientalists to make the people of India proud of their own culture.[8]"

8. Dr. Beman Behari Mazumdar, *History of Political Thought from Ram Mohan to Dayananda, Vol. I : Bengal*, p. 336.

The contributions of Sri Ramakrishna and Swami Dayananda towards making the Indian people, at least the mass of the Indian people, proud of their past culture is certainly greater than those of the Oriental scholars. But the difference between the outlook of Sri Ramakrishna and Swami Dayananda should not be lost sight of. Sri Ramakrishna tried to popularise the past Indian culture as a whole, but Swami Dayananda tried to revive the Vedic culture only to the exclusion of the Puranic culture. In fact, many of the superstitious ideas and practices prevailing among the Hindus which follow from the decadent age of Puranic mythology can by no means be supported. A more discriminating attitude distinguishes Swami Dayananda from Sri Ramakrishna.

Like Swami Dayananda Raja Rammohan Ray also tried to enrich the cultural content of Indian nationalism. A critical student of Indian nationalism cannot however ignore the difference in the outlook of these two outstanding products of the nineteenth century India. The attitude of Raja Rammohan and the Brahma Samaj was essentially

eclectic. Their attempt was to create a new synthesis taking elements from various civilizations like the Hindu, Muslim and the Christian. The role of Swami Dayananda, on the other hand, was to explain to the people the nature of the Vedic Culture in pure and unadulterated form. He exhorted the people of India to create a new civilization on the basis of the Vedic principles taking various elements from Western science and technology. Hans Kohn has rightly pointed out that though the Arya Samaj and the Brahma Samaj "were children of one and the same revolution" It was "the Arya Samaj which by reawakening the India of the past, did most to pave the way for the India of the 20th century"[9]. Mrs. Annie Besant, it may be mentioned here, dates "the undermining of the belief in the superiority of the White Races to the spreading of the Arya Samaj" (and the Theosophical society).[10]

Though Swami Dayananda's main contribution to the field of political thought lay in introducing the cultural content to the concept of Indian nationalism, he was not a narrow nationlist. He stood for national patriotism but was opposed to national arrogance. He in fact championed the cause of universalism but his concept of Universal Brotherhood did not go against the principal of national patriotism. Like Sri Aurobindo of the later period he held that national cultures of different states should instead of coming in conflict with one another contribute to the development of a cosmopolitan human culture. He proclaimed time and again : "The wall of isolation and prejudice set up by the nations of the earth will soon crumble down to the dust before the onrush of a tidal wave of a great idea and all the nations of the earth will take part in a joyous festivity of love.[11] Swami Dayananda did not support everything Indian nor did he condemn everything foreigner. He was the greatest critic of several elements of ancient Indian culture. He himself observed : "Though we are born in Aryavarta (India) and still live in

9, Hana Kohn, op. cit., p. 68

10. Mrs. Besant's Presidential Address to the annual session of the Indian National Congress in 1917.

11 Alokananda Mahabharati, *The Master's World-Union Scheme*, pp. 12-13.

it, yet just as we do not defend the evil d ctrines and practices of the religions prevailing in our own country—on the other hand expose them properly—in like manner we deal with alien religions. We treat the foreigners in the same way as we treat our own countrymen in recognition of our common humanity."[12] Swami Dayananda praised several traits of the British national character, such as, their better social efficiency, superior social institutions, self sacrificing and enterprising spirit, obedience to authority etc He found many good qualities in the western civilization and stood for a reconciliation between the two. There was no scope for any arrogance in his catholic outlook. Explaining the attitude of Dayananda, Acharya Pronobonanda wrote : "India is the home of Eastern culture and England is the type of western culture. Eastern culture is essentially spiritualistic, while Western culture is essentially materialistic Both are incomplete, one without the other. Perfection lies in the harmonious combination of both. It is through divine dispensation that India and England heve been united. Both cultures have met it India so that each may profit by the experience of the other, so that the imperfection of both may be healed."[13] A dispassionate study of his views clearly indicates that his mind was free from all narrowness and arrogance.

If we are to use any modern 'ism' to connote his philosophy, it is better to call him a humanist. His humanism was based upon the concept of spiritual man. Man represents a divine spark within him and this divinity unites the entire human race. An individual is not different from an animal if he remains under the control of his physical impulses only. By unfolding the potentialities of the divine spark inherent in every man, an individual can develop his humanity. Swamiji himself said : "Should a man act like an animal, which if strong oppresses the weak, and even puts them to death, he is more an

12. Introduction to *Satyartha Prakash* by Dayananda. The introduction is taken from *Light of Truth on an English Translation of the Satyartha Prakash of Dayananda* by Dr. Chiranjiva Bharadwaja, p. iv (introduction).

13. Acharya Pronobananda, *Thakur Dayananda and Arunachal Mission*. Quoted in Alokanand Mahabharati, op. cit., pp. 10—11

animal than a man. He alone can fitly be called a man who being strong protects the weak. He that injures others in order to gain his selfish ends can only be called a big animal."[14] Man can outgrow his animal existence only by developing the divine forces within him. He will then feel the unity of mankind and work not simply for his own gain but for general welfare. Swami Dayananda tried to elevate man to this spiritual level. He often told his disciples : "We have come to work for the good of the world, we must not look to our own happiness." Again he often said : "The good of the world must be placed above the good of one's own or even that of one's friends and relations.'"[15] In this connection we may refer to the ninth and tenth principles of the Arya Samaj as laid down by Swami Dayananda. The ninth principle stated : "Not to be content with promoting one's own happiness or well being but to consider one's welfare only in the welfare of all......" The tenth principle ran thus : "To have due regard to one's own individual freedom and development with the ultimate object of promoting general weal; or in other words, subordinating, disciplining and developing self so as to promote social welfare.[16]" Thus to promote social welfare of man was the utlimate objective of the Arya Samaj. Man should not be selfish but should work for others—this is the ultimate message of Dayananda whom we can possibly truly characterise as a great humanist.

Humanist outlook of Dayananda led him to dream of a new social order which one may call Moral Socialism. He had the vision of a cosmopolitan commonwealth of man. All countries would be free and equal and each national-unit would be a union of free individuals. In this ideal society neither money nor trade and commerce would exist in the traditional sense. There would take place only an exchange of goods between different centres. Railways, telegraph system, aeroplanes etc. would remain for the welfare of the community—as a whole. "Under the scheme, motive of 'gain' shall give place to motive of 'service' to the

14. Introduction to *Satyartha Prakash* by Dayananda taken from Dr Chiranjiva Bharadwaja, op. cit , p. iv (Introduction)

15. Alokananda Mahabharati, op. cit , p. 12.

16. Quoted by V. P. Varma, op. cit., p. 57.

whole community—each living for all and all for each.[17]" Like a true socialist Dayananda championed the interest of the submerged, downtrodden and exploited classes in society. He said : "In this New Era, God will manifest Himself amongst the submerged classes. Great religious teachers will rise from their ranks.[18]" But this new social order, he was firmly convinced, would not be established by force or by introducing changes in the social system only. What was necessary was a change in human outlook, a change of human nature. Referring to the activities of the socialists who were trying to establish a new social system by force he said. "They are pursuing a wrong track. Liberty, equality and fraternity shall never be established on earth by blood-shed. The only means to that end is spiritual force and love.[19] "Not common interest but love alone, according to Dayananda, can bring into existence a new social order without the frontier of nations and division of class.

Dayananda tried to apply these principles to the organisation of his Arya Samaj and the various Ashrams established under its auspices. The organisational structure of the Arya Samaj was based on the principle of democratic election. The Ashrams were regarded as the common property of all its members and everything was managed by them in cooperation. They were like so many religious republics.[20]

Though Dayananda had his utopia he was not an utopian thinker but a practical idealist. He believed that India, the cradle of the Vedic civilization, had a vital role to play in the world, But as long as India would remain enslaved she would not be able to play that role. He, therefore, wanted to make India free and supplied a dynamic philosophy to Indian nationalism. His role was to prepare the country socially and psychologically for freedom. He himself did not take any direct part in the political movement against the British but the British Government was immensely afraid of him and his

17. Alokananda Mahabharti, op. cit., p. 157. For details of the ideal society, as envisaged by Dayananda, see the chapter 'What is Thakur Dayananda's scheme of this book.
18. Ibid., pp. 30.31.
19 Ibid., p. 32.

20 Ibid., p. 32.

Arya Samaj. As Romain Rolland has put it : "He (Swami Dayananda) always claimed to be non-political and non anti-British but the British Government judged differently.[21]" Once when Swamiji was at Silchar (Assam) the police arrested him along with two of his disciples but they were later on released as there was no valid charge against them. The Government however always exercised pressure upon his disciples who were on Government service.[22] The British India, it is clear, understood the far-reaching and revolutionary implications of his teachings and activities. It is therefore, not surprising that Sir Valentine Chirol, who Visited India on behalf of 'The Times' to find out the causes of Indian unrest after 1907, considered the Arya Samaj as a serious menace to the British supremacy in India. The impact of the doctrines of Swami Dayananda and of the Arya Samaj founded by him is obvious though no detailed study on this topic has yet been made in our country. Zacharias has aptly remarked that "Tilak merely carried on the lines Dayananda had inaugurated"[23]. The political outlook of Lajpat Rai was besed upon the doctrines of the Arya Samaj.

21. Roma in Rolland, the life of Ramakrishna, 157-58.

22. Alokananda Mahabharati, op cit. pp. 67-68.

Two common charges against Dayananda refuted :

After explaining his main contributions in broad outline let us refer to and comment upon the two charges that are usually brought against Dayananda. He is considered by some as 'reactionary'. anti-modern and revivalist. Secondly, his aggressive and militant posture is denounced by many. Zacharias, as for example, wrote : "with him (Dayananda) rowdyness had entered Indian public life".[24] Do these charges stand the test of logic and historical analysis ?

Dayananda, it is true, derived his inspiration for creating a new India from the Vedic past. But on that account he cannot be considered as more 'reactionary' than the pioneers of the Renaissance and the Reformation movements of Europe. The Renaissance movement derived inspi-

23. Zacharias, H. c F. *Renascent India*, p. 89.

24. Ibid., P. 89.

ration from the ancient Greek civilization. The Reformation movement returned to the original Bible to combat the corruption of the Christian Church. If these movements can lay the foundation of modern Europe, is it reasonable to hold Dayananda as 'reactionary, and anti-modern ? Shri Durga Prasad has aptly described him as the "Luther of India ".[25] Swami Dayanand, one should remember, found greatest opposition to his work from the orthodox Brahmins of country. He was neither a 'reactionary' orthodox nor was his vision dazzled by the glitter of the modern western civilization. He was therefore condemned both by the orthodox as well as by the blind worshippers of 'modernism'.

Let us now come to the second charge. Dayananda was full of energy, dynamism and vitality. He firmly believed that national regeneration could not be attained by a spirit of passivity, inertia and resignation. Courage of conviction and honesty of purpose made him assertive. His ideas and activities brought about a new energy and enthusiasm among the masses of the Indian people. He made his appeal "not to an English educated elite but to the broad masses of his fellow countrymen."[26] His messsage stirred the imagination of a section of the Indian people and brought in them a sense of pride in their culture. With him, therefore, entered not "rowdyism" but assertion of the self-respect by the Indian people. Moreover, as Dr. Varma has put it, "the militancy manifested by Dayananda and Arya Samaj was partly a counterpoise to the domineering attitudes of the two other semitic churches in India, Islam and Christianity."[27]

A detailed study of the life, ideas and activities of Swami Dayanada will fully justify the remark of Dr. K. P. Jayaswal that "in the nineteenth century there was nowhere else such a powerful teacher of monotheism, such a preacher of the unity of man, such a successful crusader against capitalism in spirituality."[28] A critical examination of his views will enable us to discover solutions of many of the evils modern India is suffering from. We can forget this savant of modern India only at our own peril

25. Durga Prasad, ***An English Translation of the Satyartha Prakash of Maharshi Swami Dayananda.*** See Introduction, P. xii.

26. B. B. Mazumdar, ***History of the Indian Reformation***, p. 68.

27. Dr. V. P. Varma, op. cit., p. 59.

28. K. P. Jayaswal's article in Dayananda Commemoration volum, pp. 162 63.

महर्षि दयानन्द की देन

३

श्री जी० पी० भट्टाचार्य

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक अनुसन्धान ने यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित कर दिया है कि वैदिक काल में भारतवर्ष में एक अति उन्नत संस्कृति वर्तमान थी। वैदिक संस्कृति में अनेक कारणों से अधःपतन आरम्भ हो गया, यद्यपि इन कारणों की समग्र सम्पूर्ण व्याख्या विद्वानों ने की नहीं है। इस सामाजिक गति हीनता और अध्यात्मिक पतन के काल में अनेक सम्प्रदाय सिद्धान्त वैदिक संस्कृति को ललकारते हुए खड़े हो गये। इसी बीच, इधर इस्लाम की शक्ति से आक्रान्त होने पर भारत में राजनीतिक अनिश्चय और सामाजिक संघर्ष का काल आरम्भ हो गया। यद्यपि इस काल में, धार्मिक पुनरुत्थान और विरोधी सिद्धान्तों में समझौते के अनेक प्रयास हुए, किन्तु वे एक निश्चित क्षेत्र में आबद्ध रहे और उन्हें अति सीमित सफलता मिली। प्राचीन वैदिक संस्कृति भूतके अवशेषों में ढकी पड़ी रही।

ब्रिटेन की भारत विजय के कारण भारत के सामाजिक राजनीतिक, बौद्धिक जीवन में नवचेतना और गतिशीलता का जन्म हुआ। भारत न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक इकाई में बँध गया, वलिक इसका सम्पर्क पश्चिम के विचार, विज्ञान और तकनीक से हुआ। पश्चिम की इस धारा के साथ ही भारत के अतीत और विस्मृतप्राय संस्कृति का उद्धार विद्वानों के दल, पश्चात्य और पौरस्त्य, दोनों ने भारत के अतीत के सम्बन्ध में अपने अनुसन्धान के द्वारा, किया। इन दो सांस्कृतिक शक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। इनमें से एक पश्चिम से आयात, बुद्धिवादी, धर्मनिर्पेक्ष और विज्ञान के आधार पर थी और दूसरी आध्यात्मिक एवं श्रेष्ठ भारत की प्राचीन परम्परा से उद्भूत हुई। इन्होंने देश में एक बौद्धिक क्रान्ति का जन्म दिया जिसे उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण कहते हैं। यह जागरण बहुपक्षीय सांस्कृतिक आन्दोलन था और विभिन्न विचार धाराएँ, और कभी कभी विरोधी विचारधाराएँ सन्निविष्ट हुई। कुछ लोग, जो सर्वथा परम्परावादी थे, इस पुनर्जागरण के प्रभाव से पृथक रहे और उन्होंने रूढ़िगत परम्पराओं और संस्थानों की रक्षा की चेष्टा की। एक और विचारधारा के लोग थे जो पश्चिमी विचारों के प्रवाह में बह गये और वे भारत के अतीत के प्रति अनावृत हीनता का दृष्टिकोण रखने लगे। अधिक शान्त लोगों ने भारत की अतीत परम्परा और पश्चिम के विज्ञान एवं तकनीक में ताल मेल बैठाने की चेष्टा की।

इस सामञ्जस्यवादी विचारधारा का नेतृत्व करने के लिये भारत के दो छोरों से दो महापुरुष पैदा हुए; एक पूर्वी भारत से, दूसरे पश्चिमी भारत से। समान्यतः बंगाल के राजा राममोहन राय और गुजरात के महर्षि दयानन्द सरस्वती का

सम्बन्ध इसी विचारधारा से है। उन दोनों में कोई मौलिक अन्तर न था; जो कुछ भेद था वह मात्रा और महत्व का था। राजा राम मोहन राय महान् विद्वान् थे। वे पाश्चात्य एवं पौरस्त्य, संस्कृत समेत, कई भाषाएँ जानते थे। उन दिनों ब्रिटेन से कई प्रसिद्ध विद्वान भारत वर्ष आये और इस देश में अंग्रेजी भाषा की निरन्तर प्रगति होती जा रही थी। उस युग की यह एक महती आवश्यकता थी कि कोई ऐसा समर्थ व्यक्ति पैदा होता जो वेदों का भाष्य मौलिक और विशुद्ध रूप में करता। उस युग के पण्डितों ने वेद भाष्य किये थे किन्तु वे पौराणिक कथाओं के आलोक में थे। उनके भाष्य वैदिक काल की समुन्नत संस्कृति का यथोचित सुस्पष्ट ज्ञान नहीं दे सकते थे। योरोपीय विद्वानों ने इन्हीं पण्डितों से संस्कृत पढ़ी थी अतः अनिवार्यतः योरोपीय विद्वानों की भाषाओं में भी वही रंग चढ़ गया। यह महर्षि दयानन्द ही थे, जिन्होंने असामान्य अन्तर्दृष्टि से वेदों पर न्यस्त पौराणिक कथा भार से वेदों को मुक्त किया और वेदों का अर्थ वैदिक भाषा के दृष्टिकोण से किया। वैदिक संस्कृति की प्रकृति के सम्बन्ध में उनके भाष्य ने एक नूतन पथ का उद्घाटन किया। उन्नीसवीं शती में भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महर्षि दयानन्द का आधारभूत कार्य छिपा है। इसी ऐतिहासिक परिवेश के आलोक में तथा जिस विशिष्ट ऐतिहासिक आकांक्षा की पूर्ति उन्होंने की, उसके परिप्रेक्ष्य में, महर्षि दयानन्द के अवदानों का मूल्याङ्कन होना चाहिये।

संक्षिप्त जीवन चित्र: उनके जीवन के तीन चरण

* महर्षि दयानन्द का जन्म १८२४ में मौरवी राज्य, कठियावाड़, गुजरात में एक कट्टर परम्परावादी ब्राह्मण परिवार में हुआ। छोटी अवस्था में ही उनमें धर्म के प्रति गहरी अभिरूचि का विकास हुआ। उनकी आयु अभी बीस वर्षों की भी न थी जब हिन्दुओं की धार्मिक परम्परा पर से उनकी आस्था हट गई और उन्होंने अनुभव किया कि मूर्तिपूजा और बहुदेवता वाद व्यर्थ तथा हानिकारक हैं। इनके परम्परा विरुद्ध विचारों के कारण इनकी अपने पिताजी से अनबन रही। अभी दयानन्दजी की आयु केवल बीस वर्षों की ही थी जबकि इनके पिताजी ने बलात् इनकी इच्छा के विरुद्ध इनका विवाह करना चाहा और दयानन्द जी अपने पिताजी का घर छोड़ने के लिये बाधित हो गये। यहाँ से दयानन्द जी के जीवन का द्वितीय चरण आरम्भ होता है। उन्होंने घर से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और संन्यास ले लिया। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया और अपनी आँखों हिन्दु समाज का विस्तार से अध्ययन किया। उनके उर्वर मस्तिष्क में, उनके गम्भीर अध्ययन और साधना के फलस्वरूप इस विस्तृत अनुभव ने बहुत सुन्दर परिणाम उत्पन्न किया। सन् १८६० ई० में उन्होंने मथुरा में गुरू स्वामी विराजानन्द जी के पास अध्ययन आरम्भ किया और यह अध्ययन का क्रम ढाई वर्षों तक चलता रहा। सन् १८६४ ई० में उन्होंने जनता में प्रचार करना, उपदेश देना आरम्भ किया। इस प्रकार उनके जीवन के तृतीय चरण का आरम्भ हुआ। इन अपने जन प्रवचनों में वे संस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया करते थे, अतः साधारण जनता का विशाल भाग उसे समझ न पाता था। अतः पीछे उन्होंने जन भाषा + में प्रवचन आरम्भ किया। १० अप्रैल १८७५ ई० को इन्होंने सर्वप्रथम बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। सन् १८७७ ई० में लाहौर में आर्य समाज के विधान को अन्तिम रूप दिया गया। स्वामी दयानन्द जी इस समय अपने सन्देश के प्रचार में पूर्णरूप से तल्लीन हो गये थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सत्यार्थ प्रकाश है। इनमें इन्होंने अपने विचारों की व्याख्या की है और इन्होंने लोगों को आर्य समाज की पताका के नीचे संगठित करने की चेष्टा की। देश के पश्चिम भाग में गुजरात, पंजाब, उ० प्र०, और राजस्थान में इनका सन्देश विशेष रूप से सफल हुआ।

---

* इनका वास्तविक नाम मूल शंकर था।

\+ स्वामी दयानन्द जी इसे 'आर्य भाषा' के नाम से अभिहित करते हैं। सम्पादक

३० अक्टूबर १८८३ ई० को महर्षि के पार्थिव शरीर का अन्त हो गया।

भारतीय समस्याओं के प्रति महर्षि दयानन्द के मौलिक विचार

महर्षि दयानन्दजी सुदृढ़ इच्छा और बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्होंने भारत के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है। उन्होंने भारतीय जनता को एक दृष्टिकोण और नूतन गतिशीलता दी। उन्होने हमारे राष्ट्रिय जीवन को बहुविध समृद्ध किया। उनके बहुपक्षीय अवदानों का मूल्यांकन उन्हें तीन वर्गों में विभक्त करके किया जा सकता है : धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक। उनके अवदान परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं अतः इस वर्गीकरण को बहुत दृढ़ता से नहीं पकड़ना चाहिये। राजनीतिक परतन्त्रता के परिप्रेक्ष्य में ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा हिन्दुओं के धर्म-परिवर्त्तन को स्वामी दयानन्द ने बड़ो चिन्ता से देखा। हिन्दू समाज में प्रचलित अन्धविश्वास और कुरीतियों ने ईसाई धर्मप्रचारकों को अच्छा अवसर दिया और वे बड़ी सफलता से हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे। भारत या आर्यावर्त्त की हिन्दू सभ्यता की चेतना को चरने वाली कुरीतियों को दयानन्द का समर्थन नहीं मिल सका। स्वामी दयानन्द को भय था कि वैदिक सभ्यता की यह भूमि राजनीतिक परतन्त्रता और अन्य बुराइयों के कारण अपना स्वत्व खो बैठेगी। यह राजनीतिक परतन्त्रता क्यों थी ? स्वामीजी के विचार से भारत की राजनीतिक परतन्त्रता का कारण था, "परस्पर ईर्ष्या, द्रोह, मतमतान्तर, जीवन में अपवित्रता, शिक्षा का अभाव, बालविवाह... . भौतिक सुखों में आसक्ति, असदाचार और अन्य कुरीतियाँ।"२ इनके विचार में सामाजिक पतन ही राजनीतिक परतन्त्रता का कारण था। अतः उन्होंने सोचा कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार है सामाजिक कुरीतियों को दूर करना और आर्यावर्त्त के लोगों में सामाजिक कुरीतियों का मूल आधार क्या था ? वास्तविक वैदिक संस्कृति से पथभ्रष्ट होने के कारण ही सामाजिक कुरीतियाँ आई थीं। अतः मूल वैदिक संस्कृति का पुनः स्थापन ही हिन्दू-कुरीतियों को दूर करने का एकमात्र उपाय था। इस प्रकार महर्षि दयानन्द के विचार में राजनीतिक स्वतन्त्रता, सामाजिक सुधार और वैदिक सभ्यता के पुनरुद्धार में कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध था। वैदिक सभ्यता के पुनरुद्धार से सामाजिक सुधार होगा और इसी से राजनीतिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त होगा। इस प्रकार दयानन्द में धार्मिक उपदेशक, समाज-सुधारक और राजनीतिक सन्देष्टा, तीनों एक में अनुस्यूत हैं। यद्यपि हम इन तीनों अवदानों को तीन अलग खण्डों में वर्णन करेंगे, फिर भी, इस सामञ्जस्यकारी तत्त्व का ध्यान रखना चाहिये।

२—वी० पी० वर्मा द्वारा Modern Indian Political Thouhgt में पृष्ठ ६० पर सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत।

धार्मिक सुधार :

स्वामी दयानन्द पूर्णतः धार्मिक व्यक्ति थे और वे संन्यासी बने। किन्तु संन्यास के कारण इन्होंने समाज का तिरस्कार कर केवल एकान्त और आत्म-कल्याण को ही लक्ष्य नहीं बनाया। पूर्ण वैराग्य के साथ ये समाज में रहे और इन्होंने समाज के लिए काम किया। स्वामी दयानन्द ने देखा कि तात्कालिक हिन्दू-समाज वैदिक-काल के हिन्दु-समाज से सर्वथा भिन्न था। वेद के आदेश के विरुद्ध लोग अन्धविश्वासपूर्ण परम्परा का पालन हिन्दु-धर्म के नाम पर कर रहे थे। बहु-देवतावाद, मूर्तिपूजा, अस्पृश्यता आदि हिन्दु-धर्म के आवश्यक अंग माने जा रहे थे। किन्तु स्वामी दयानन्द ने देखा कि वेदों के आधार पर इनमें से किसी की भी प्रामाणिकता नहीं थी। उन्होंने देखा कि हिन्दु अन्धविश्वासों से ऊबकर बहुत से लोग ईसाइयत की ओर आकृष्ट होते जा रहे थे। वैदिक धर्म की वास्तविकता दिखाकर उन्होंने इस गतिविधि को अवरुद्ध करने की चेष्टा की।

स्वामी दयानन्द ने विचार किया और देखा कि हिन्दु-सभ्यता का पतन पुराणों की धर्म-परम्परा से आरम्भ हुआ। हिन्दु-विचारधारा की अन्तिम कड़ी, पुराण-कथाएँ ही प्रचलित हिन्दु-धर्म का आधार थीं। स्वामी दयानन्द ने बताया कि ये पुराण कथाएँ न तो वेदों द्वारा समर्थित हैं और न स्मृतियों द्वारा ही। पौराणिक काल के वेदभाष्यकारों ने अपने विचारों का समर्थन वेदों में खोजने की चेष्टा की। अतः उन्होंने वेदों के भाष्य अपने ढंग से कर लिए। सायण और महीधर जैसे भाष्यकर्त्ता इसी वर्ग के हैं। वे प्रायः वेदों के पौराणिक भाष्यकार के रूप में सम्मिलित जाने जाते हैं। उन्होंने वेदों का ऐसा भाष्य किया जिसमें पुराण कथाओं को वेदों से प्रमाणित करने की चेष्टा की। पश्चिम के विद्वानों ने इन भाष्यों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया। अतः इनके वेद-भाष्य भी सायण, महीधर और इसी विचारधारा के दूसरे भाष्यों से प्रभावित हुए। परवर्त्ती काल के भाष्यकारों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वामी दयानन्द ने मूल ग्रन्थों के आधार पर वेदों का भाष्य किया।

यह सर्वसम्मत है कि निरुक्तकार यास्क वेदभाष्य के सम्बन्ध में सर्वोच्च प्रमाण हैं। सायण और महीधर ने भी सम्मानपूर्वक उनके उद्धरण दिये हैं। स्वामी दयानन्द ने यास्क प्रतिपादित निरुक्त के सिद्धान्तों के आधार पर वेद भाष्य करने का प्रयास किया। यास्क के अनुसार वेद के सभी पद अपने यौगिक अर्थ में प्रयुक्त हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनमें व्यक्तिवाचक संज्ञा या ऐतिहासिक सन्दर्भ हो ही नहीं सकता। पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विचार-धारा के प्रतिकूल यास्क को वेदभाष्य की नैरुक्तिक परम्परा का संस्थापक माना जा सकता है। अन्ध-परम्परा के सर्वथा विरुद्ध स्वामी दयानन्द ने नैरुक्तिक विचारधारा का अनुसरण करते हुए वेद-मन्त्रों का अर्थ किया। वेदों में प्रयुक्त अग्नि, वायु, सूर्य, आकाश, आदि पद, निरुक्त या निर्वचन प्रक्रिया के अनुसार, प्रकृति के विभिन्न विभागों पर शासन करने वाले देवताओं के वाची नहीं हैं। इनका दो अर्थों में प्रयोग हुआ है। कभी वे भौतिक पदार्थों का बोध कराते हैं तो कभी सर्वशक्तिमान् परमात्मा का। अग्नि, वायु, सूर्य, सोम आदि पद उसी वर्णनातीत का वर्णन करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं और उसे ही वेदों में ओ३म् कहा गया है। इन शब्दों का प्रयोग किसी भौतिक पदार्थ का वर्णन कर रहा है या वर्णनातीत सर्वशक्तिमान् का, यह निर्णय केवल सन्दर्भ के आधार पर ही किया जा सकता है। इन विभिन्न पदों का निर्वचनानुसारी भाष्य करके स्वामी दयानन्द ने वेद-मन्त्रों का अति सुरुचिपूर्ण अर्थ किया। उनके अनुसार उर्वशी स्वर्गीय अप्सरा और इन्द्र के दरबार की सुन्दरी नहीं अपितु विद्युत है। जिन वेद-मन्त्रों में बालिश कथाओं का वर्णन समझा जाता था, दयानन्द के अनुसार उनमें अति महत्त्वपूर्ण सत्य उद्घाटित हुआ है। इन सिद्धान्तों के आधार पर स्वामी दयानन्द ने जो वेदभाष्य किये, उनसे प्राचीन भारत की अति उन्नत एवं वैज्ञानिक संस्कृति का परिचय मिला। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में, जिसे उन्होंने हिन्दी में लिखा था, उनकी व्याख्या मिलती है। प्रथम दश समुल्लासों में वैदिक शिक्षा का वर्णन है। एकादश समुल्लास में पौराणिक और तान्त्रिक मान्यताओं की व्याख्या है। स्वामीजी के अनुसार इनमें वेदों से सुस्पष्ट मतभेद है। द्वादश समुल्लास में, बौद्ध, जैन और चार्वाक मतों की समालोचना है। इन नास्तिक विचारों के कारण, भारतीय सभ्यता संस्कृति का पतन हुआ है अतः स्वामी दयानन्द उनके प्रचार को हर प्रकार से रोकना चाहते थे। इस पुस्तक में स्वामी दयानन्द की वैदिक विद्या पूर्णरूप से प्रकट हुई है। कोई उनके विचारों से सहमत हो या न हो, किन्तु जो भी इस पुस्तक को पढ़ेगा, वह उनकी विश्लेषण क्षमता और विद्या की गम्भीरता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य यह था कि प्राचीन वैदिक सभ्यता के आधार पर जो "जड़ें आई हैं, उन्हें काट-छाँटकर"[३] भारतीय जन-जीवन के पुनर्निर्माण के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया जाय।

---

३. MacDonald, The Government of India. P. 236.

स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थ प्रकाश में यह स्थापना की कि वेद धर्म एक एकेश्वरवाद का हामी है। वेदों में ऐसे मन्त्र हैं, उनमें ईश्वर की एकता का वर्णन है किन्तु साथ ही ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमें अनेक देवों का प्रसङ्ग है। इससे बहुतों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वेद धर्म बहुदेवतावादी है। वेद-धर्म की व्याख्या के लिये मैक्समूलर ने Henotheism+ शब्द को सर्वापेक्षया अधिक उपयुक्त समझा। उसने कहा कि बहुदेवतावाद से हम देवों की एक ऐसी व्यवस्थित परम्परा समझते हैं जिस मेंसर्वशक्तिमान् प्रभु (चाहे Zeus हो or Jupiter हो) सबसे ऊपर और उसके अन्दर अनेक देवताओं का स्थान है। उसे वेदों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं मिलती है। अतः मैक्समूलर ने Henotheism शब्द काचुनाव किया। स्वामी दयानन्द इन विचारों से सहमत न हुए। उन्होंने कहा कि वेद में एक ही ईश्वर का वर्णन है यद्यपि उसे अनेक नामों से अभिहित किया गया है। जिस प्रकार ईश्वर के विशेषण अनन्त हैं, उसी प्रकार उसके नाम भी अनन्त हैं। स्वामी दयानन्द ने अनुसार अग्नि, वायु, सूर्य आदि पद भिन्न-भिन्न देवताओं के वाचक न होकर एक ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर के विभिन्न विशेषण हैं। ये विभिन्न पद भौतिक पदार्थों के नाम भी हैं अतः जैसा हमने पहले कहा है, इन पदों का वास्तविक अर्थ उनके सन्दर्भ से ही निर्णीत हो सकता है।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य बहुतों को उपहसनीय लगते हैं? कुछ लोगों ने उन्हें अशुद्ध व्याख्या करने वाला समझा। उनकी व्याख्या सचमुच परम्परा निरपेक्ष है, अतः परम्परा और अन्धविश्वास के विरुद्ध है। किन्तु यह उनके तिरस्कार का कोई कारण नहीं। उनकी व्याख्या निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर है और वे इन सिद्धान्तों का अनवरत अनुसरण करते हैं। कोई या तो यह दिखा दे कि वेदभाष्य की निर्वचन पद्धति स्वयं अशुद्ध है या फिर यह दिखा दे कि स्वामी दयानन्द के भाष्य में यह पद्धति संगत नहीं हुई। किन्तु आज तक उस स्तर पर स्वामी दयानन्द से किसी ने हाथ मिलाने का साहस नहीं किया।

+ बिना दूसरे देव को इन्कार किये एक देव की पूजा।

—सम्पादक

समाज सुधार—

वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार की चेष्टा के साथ ही स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज के कई सुधार की चेष्टा की। उन्होंने देखा कि हिन्दू समाज में प्रचलित तमाम कुरीतियाँ, वेद के आदर्श के विरुद्ध हैं और उन्हीं के कारण हिन्दू समाज ईसाइयों के आक्रमण का शिकार बना हुआ है। अतः उन्होंने हिन्दु समाज से इन कुरीतियों को दूर करने की चेष्टा की।

स्वामी दयानन्द मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी थे और इसके विरुद्ध उन्होंने सोलह आक्षेप किये।[४] उन्होंने बलि प्रथा का दृढ़ विरोध किया और हिन्दुओं द्वारा विदेश यात्रा को प्रोत्साहन दिया। राजा राममोहन राय की तरह वे भी नारी-स्वतन्त्रता के समर्थक थे। इन्होंने देखा कि वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध, बहुत से अमानवीय बन्धन हिन्दु स्त्रियों पर लगे हैं। स्त्री और पुरुषों की समानता के सिद्धान्त का प्रचार करते हुए उन्होंने स्त्रियों पर लगे इन बन्धनों को हटाने की चेष्टा की। उन्होंने बाल विवाह का विरोध किया। उनके मतानुसार २५ वर्ष से कम के पुरुष और १६ वर्ष से कम की स्त्री का विवाह नहीं होना चाहिये। वह स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह के प्रबल समर्थक थे।+ स्वामी दयानन्द ने तदानीन्तन प्रचलित जाति प्रथा का विरोध किया। उन्होंने वैदिक वर्णाश्रम धर्म के पुनरुद्धार की चेष्टा की। उन्होंने विचार किया कि वैदिक सिद्धान्तानुसार किसी का वर्ण उसके

४—डा० चिरंजीव भारद्वाजकृत सत्यार्थ प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद पृ० ३५८-६०। यह प्रसंग मूल सत्यार्थ प्रकाश में एकादश समुल्लास पृ० तृ९७-९८ , वैदिक यन्त्रालय, अजमेर ३४वाँ प्रकाशन) सम्पा०।

+ विधवा विवाह के स्थान पर ऋषि ने 'नियोग' प्रथा का समर्थन किया। आज के समाज में निोग कठिन है अतः विधवा विवाह कम हानिकर प्रथा के रूप में समर्थित है।

—सम्पादक

जन्म से नहीं अपितु उसके गुण कर्म स्वभाव से निश्चय होना चाहिये। उनके अनुसार, वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर समाज को चार वर्णों, में ही विभक्त करना चाहिये। हिन्दुओं में प्रचलित असंख्य जाति उपजाति की प्रथा को उन्होंने वैदिक समाज संघटन की भावना के विरुद्ध कहा। हिन्दू समाज में व्याप्त अस्पृश्यता का उन्होंने विरोध किया। महात्मा गांधी ने स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए कहा है—"अस्पृश्यता के विरुद्ध स्वामी दयानन्द की सुस्पष्ट घोषणा असंदिग्ध रूप से हमारे लिए उनके समृद्ध दाय में से एक है।"

कहाप दयानन्द ने शुद्धि आन्दोलन के रूप में आर्य समाज के पुरोगम में एक क्रान्तिकारी योजना दी। उनका विश्वास था कि खोये हुए हिन्दुओं को, जो दूसरे मतों में चले गये हैं, उनको पुनः हिन्दुओं में मिला लेना चाहिए। यह पुनर्हिन्दु-करण का आन्दोलन शुद्धि आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। उदार और प्रबुद्ध वैदिक मान्यताओं के साथ उनका विश्वास था कि हिन्दुओं का दरवाजा सदा उनके लिये खुला रहना चाहिये जो किसी समय किसी कारण से इसे त्याग कर अन्यत्र चले गये थे।

स्वामी दयानन्द अपने देश की शिक्षा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने के लिये सचेष्ट थे। अंग्रेजों द्वारा चालित शिक्षा व्यवस्था की जो भी अच्छाई हो, किन्तु इसका देश की विशाल सांस्कृतिक परम्परा से कोई सम्बन्ध न था। इस शिक्षा व्यवस्था की उपज सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जनसाधारण के लिये विदेशी थी। स्वामी दयानन्द इस व्यवस्था को बदलना चाहते थे। इस प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का, जिसका स्वदेशी आन्दोलन के दिनों अधिक प्रचार हुआ, आदि प्रचारक स्वामीजी को समझना चाहिए। उनका कहना था कि भारतीय लोग अपने देश का विशुद्ध सांस्कृतिक साहित्य पढ़ें और इसके लिये उन्हें संस्कृत और वेद की ओर लौट आना चाहिये। छात्र केवल ज्ञान ही न प्राप्त करें, बल्कि अपने चरित्र से समाज के अच्छे सदस्य बनें। दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक कालेज की स्थापना महर्षि के विचारों के आधार पर की गई थी।५ इसमें संस्कृत और वेदों के अतिरिक्त अंग्रेजी, पश्चिमी विज्ञान, पश्चिमी दर्शन, इतिहास आदि भी पढ़ाये जाते थे।६ इससे यह सुस्पष्ट है कि दयानन्द का विरोध पश्चिमी विज्ञान और अंग्रेजी भाषा से नहीं था। किन्तु राष्ट्रिय पुनरुद्धार और जातीय उत्थान के लिये वे विगत वैदिक सभ्यता और संस्कृत भाषा का ज्ञान अनिवार्य मानते थे।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज वर्तमान भारत के सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण शक्ति है। क्रियात्मक क्रियाकलाप से इसने आर्यावर्त में एक नये समाज को स्थापित करने की चेष्टा की है। स्त्री और पुरुष दोनों के लिये एक बड़ी संख्या में स्कूल कालेज चलाने के अतिरिक्त इसने अच्छी संख्या में अनाथालय और विधवा सदनों की स्थापना की है। दलित वर्गों के लिये समाज का अपना मिशन है और इसने सहस्रों पद्दलितों को उठाकर उच्च वर्ग की प्रतिष्ठा दी है। इसने बड़ी दृढ़ता और निष्ठा से स्त्री स्वतन्त्रता के प्रश्न को लिया और बड़ी संख्या में बाल-विधवाओं की सुख-सुविधा की व्यवस्था की। अकाल और बाढ़ जैसे प्रकृति के प्रकोपों के अवसर पर आर्य समाज ने अनेक बार रिलीफ का काम किया है।७

५—आर्य समाज में मतभेद और दो दलों की सृष्टि (एक के नेता लाला हंसराज और दूसरे के नेता स्वामी श्रद्धानन्द) का वर्णन इस लेख में अनपेक्षित है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि डी॰ ए॰ बी॰ कालेज प्रथम दल के अन्दर रहा और दूसरे दल ने एक नूतन शिक्षण संस्था की स्थापना हरद्वार के पास गुरुकुल नाम से किया।

६—Hans Kohu, "A History of Nationalism in the East" P. 65

७—Sea Introduction of Ghasi Ram to the Commentary on the Vedas & Swami Dayanand.
आर्य समाज के इतिहास के लिये लाला लाजपतराय की पुस्तक द्रष्टव्य है।

राजनीतिक सुधार

शब्द के अपने तकनीकी अर्थ में दयानन्द राजनीतिक चिन्तक नहीं थे, किन्तु उनके विचारों के सतर्क स्वाध्याय से उनका राजनीतिक चिन्तन उद्घाटित होता है। स्वयं राजनीति की परिधि से बाहर रहकर भी उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रभूत अवदान किया है। अत्यन्त धार्मिक होकर भी उन्होंने मनुष्य के अस्तित्व के भौतिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की। मानव जीवन का कोई भी पक्ष उनके लिये परकीय नहीं था और उनके मिशन का उद्देश्य था कि सम्पूर्ण मानव जीवन को आध्यात्म दर्शन के निर्देश में लाया जाय।

उनके राजनीतिक विचार की अत्यन्त आकर्षक विशेषता जो बड़ी सरलता से हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है, उनके राष्ट्रियता के विचार के अवदान में है। वर्तमान विचार परम्परा में राष्ट्रियता अनिवार्यतः राजनीतिक विचार है किन्तु इसका पोषण सांस्कृतिक विचार से होता है। अंग्रेज सरकार ने रेल, तार, समान व्यवस्था और विधि की सृष्टि करके राजनीतिक राष्ट्रीयता की परिस्थिति को ठीक कर दिया था। स्वामी दयानन्द का काम था कि राष्ट्रियता के इस विचार में वे इसकी आत्मा सन्निविष्ट कर दें। वैदिक संस्कृति की वास्तविक प्रकृति और आभा की व्याख्या करके उन्होंने जनमानस में उसके प्रति गौरव का भाव पैदा करने का प्रयास किया। पश्चिम के प्राच्य विद्या विदों ने भारत के अतीत की संस्कृति का पता करने की बड़ी चेष्टा की किन्तु फिर भी वे वैदिक संस्कृति और पतनोन्मुख पौराणिक काल की संस्कृति में अन्तर न दिखा सके। प्राच्य विद्या के इस महत्वपूर्ण पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाले स्वामी दयानन्दजी प्रथम व्यक्ति थे। इस सम्बन्ध में डा० मजुमदार का उद्धरण उपयुक्त होगा। वे लिखते हैं, गत शताब्दी की सन्तति में श्रीरामकृष्ण और स्वामी दयानन्द जैसे धार्मिक नेताओं ने भारत को अपनी संस्कृति का गौरव बोध कराने में पश्चिमके विद्वानों की तुलनामें बहुत अधिक काम किया।८ किन्तु श्रीराम कृष्ण और स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोणों में जो भेद है उससे आँख नहीं मोड़ा जा सकता। श्री राम कृष्ण ने भारत की समग्र प्राचीन संस्कृति को जनप्रिय बनाने का प्रयास किया, जब कि स्वामी दयानन्द ने पौराणिक सभ्यता को त्याग कर केवल वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार की चेष्टा की। वस्तुतः बहुत सारे अन्ध-विश्वासी आचार विचार जो पतनोन्मुख पौराणिक कथा साहित्य की देन है, किसी प्रकार भी समर्थित नहीं हो सकते। विभेद की यह तीव्रतर भावना स्वामी दयानन्द को श्री राम कृष्ण से पृथक करती है।

स्वामी दयानन्द की तरह राजा राममोहन रायने भारतीय राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक अंग को समृद्ध करने की चेष्टा की। भारतकी उन्नीसवी शती के इन दो प्रमुख व्यक्तियों मेंअंतराल की अवहेलना कोई समीक्षात्मक अध्ययन करने वाला विद्यार्थी नहीं कर सकता। राजा राम मोहन राय और ब्राह्म समाज का दृष्टिकोण अनिवार्यतः बहुस्रोतों से श्रेष्ठ स्चयन (ec'ectic) का था। उनकी चेष्टा थी कि हिन्दु मुसलमान और ईसाई आदि विभिन्न सभ्यताओं में सामञ्जस्य करके एक नूतन रूप बनाया जाय। दूसरी ओर स्वामी दयानन्द का कार्य था, लोगों को विशुद्ध वैदिक परम्परा का परिचय कराना। उन्होंने भारतीय जनता को प्रेरित किया कि वे पश्चिम के विज्ञान और तकनीक के विभिन्न पक्षों को लेकर वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर एक नूतन सभ्यता की सृष्टि करें। हंस कान ने उचित ही संकेत किया है कि "यद्यपि ब्राह्म समाज और आर्य समाज एक ही क्रान्ति की उपज थे। किन्तु यह आर्य समाज ही था जिसने प्राचीन भारत को जगा कर बीसवीं शती के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया।९" यह यहाँ

८—Dr. Bemav Bebari Mazumdar, History of Political thought from Ram Mohan to Dayanand. Vol. I: Bengal P. 336.

९—Hans kohn, पूर्व उद्धृत पृ० ६३

कहा जा सकता है कि श्रीमती एनीबेसेन्ट के अनुसार आर्य समाज (और थियोसोफिकल सोसाइटी) के प्रचार के युग में श्वेत जाति की उच्चता के विश्वास को कम किया।[१०]

यद्यपि राजनीतिकी विचार धारा में स्वामी दयानन्द का मुख्य अवदान था भारतीय राष्ट्रियता में सांस्कृतिक तत्त्व का सन्निवेश तथापि वे संकुचित राष्ट्रियतावादी न थे। उन्होंने राष्ट्र भक्ति का समर्थन किया किन्तु मिथ्या राष्ट्रभिमान का विरोध किया। उन्होंने विश्व बन्धुत्व के विचार को बलदिया किन्तु इनका विश्व बन्धुत्व का विचार राष्ट्र भक्ति के विरुद्ध नहीं जाता। परवर्ती काल के श्री अरविन्द की तरह, इन्होंने कहाकि विभिन्न राज्यों की संस्कृतियों को चाहिये कि वे परस्पर संघर्ष में पड़ने के वजाय एक विश्व जननी मानव सभ्यता के निर्माण में योगदान करें। उन्होंने बहुबार घोषणा की, कि धरती के राष्ट्रों के द्वारा; पार्थक्य और पक्षपात की जो दीवारें बनाई गई हैं, वे शीघ्र ही एक महान विचार के सम्मुख धराशायी हो जायगी और आनन्दोत्सव में सब राष्ट्र सम्मिलित होंगे।[११] स्वामी दयानन्द ने न तो प्रत्येक भारतीय वस्तु का समर्थन किया, न ही प्रत्येक विदेशी वस्तु की निन्दा की। वे प्राचीन भारत की संस्कृति के कई तत्त्वों के महत्तम समालोचक थे। उन्होंने स्वयं कहा है: "यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में पैदा हुआ हूँ और वसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ व मत वालों के साथ भी वर्तता हूँ। जैसे स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को वर्तना योग्य है[१२] स्वामी दयानन्द ने कई बातों में अंग्रेजों के राष्ट्रिय चरित्र की प्रशंसा की है, यथा उनकी उच्चतर सामाजिक दक्षता, उनके सुन्दरतर सामाजिक संगठन, उनका आत्म त्याग और उनकी साहसी प्रकृति, उनकी अनुशासन प्रियता आदि। पश्चिमी सभ्यता में भी वे कई गुणों के कायल थे और उन्होंने दोनों में सामञ्जस्य का समर्थन किया। उनके विश्वजनीन दृष्टिकोण में कहीं मिथ्या प्रतिष्ठा के लिये स्थान न था। दयानन्द के दृष्टिकोण का वर्णन करते हुये आचार्य प्रणवानन्द ने लिखा है: भारत "प्राच्य संस्कृति का घर है और इंगलैण्ड पाश्चात्य संस्कृति का। प्राच्य संस्कृति अनिवार्यतः आध्यात्मिक है और पाश्चात्य संस्कृति अनिवार्यतः भौतिक। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। पूर्णता दोनों के सहयोगी सामञ्जस्य में है। यह दैवी विधान है कि भारत और इंगलैण्ड एकत्र हुए हैं। दोनों संस्कृतियाँ भारत में एकत्र हुई हैं जिससे एक दूसरे के अनुभव से लाभ उठा सकें। एक दूसरे की अपूर्णता की पूर्ति हो सके।[१३] उनके विचारों का सतर्क अध्ययन यह सुस्पष्ट करता है कि उनका मस्तिष्क सर्व प्रकार की सङ्कीर्णताओं और मिथ्या अभिमान से मुक्त था।

यदि उनके 'दर्शन' के लिये किसी वर्तमान 'वाद' का प्रयोग करना हो तो यह अच्छा होगा कि उन्हें 'मानववादी' कहा जाय। उनके मानववाद का आधार आध्यात्मिक मनुष्य है। मनुष्य अपने अन्तरात्मा में स्थिति दैवी स्फुलिंग का प्रतिनिधि है और यही देवता सम्पूर्ण मानव जाति को एकत्र करती है। एक व्यक्ति किसी पशु से भिन्न न होगा यदि वह अपनी भौतिक कामनाओं के अधीन बना रहे। मनुष्य के भीतर स्थिति दैवी शक्ति के स्फुलिंग को विकसित करके मानव अपनी मानवता का विकास कर सकता है। स्वामीजी ने स्वयं कहा है: "जैसे पशु बलवान होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पा के वैसा ही

१०—श्रीमती बेसेन्ट का भारतीय राष्ट्रिय कांग्रेस में १९१७ में दिया गया भाषण।

११—Alokanand Maharshi the Masters world union Seheme PP 12-13

१२—सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका से

13—Acharya Pronobananda Thakur Dayanand and Arunachal Mission. Suoted in Alokanand Mahabharati, op. cit, pp. 10-11

कर्म करते हैं तो वे मनुष्य स्वभाव युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थवश होकर पर हानि मात्र करता रहता है, वह जानों पशुओं का भी बड़ा भाई है।[१४] मनुष्य केवल दैवी शक्तियों के विकास के द्वारा ही अपनी पशु सत्ता को दबा सकता है। तभी उसे मानव एकता की अनुभूति होगी और वह केवल अपने स्वार्थ की न सोच कर जन साधारण के कल्याण के लिये कार्य करेगा। स्वामी दयानन्द ने मानव को इस आध्यात्मिक स्तर तक उठाने की चेष्टा की वह अपने शिष्यों से प्रायः कहते थे। "हम संसार के कल्याण के लिये आये हैं, हमें अपने सुख की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।" प्रायः वे और भी कहते, "संसार का कल्याण अपने सुख या अपने मित्रों और साथियों के कल्याण से उच्चतर है।"[१५] इस सम्बन्ध में हम स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित आर्य समाज के नवम और दशम नियमों का उद्धारण दे सकते हैं। नवम नियम है : "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" दशम नियम इस प्रकार है, सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र हैं।" इस प्रकार समाज कल्याण ही आर्य समाज का अन्तिम उद्देश्य था। स्वामी दयानन्द सम्भवतः महान् मानवतावादी थे और उनका अन्तिम उपदेश था कि मनुष्य को स्वार्थी नहीं बनना चाहिये बल्कि इसेदूसरों के हित के लिये कार्य करना चाहिये।

स्वामी दयानन्द ने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण में एक नूतन समाज व्यवस्था का स्वप्न देखा, जिसे नैतिक समाजवाद कह सकते हैं। उनकी दृष्टि सार्वजनीन मानव कल्याण परिषद् की थी। सभी देश स्वतन्त्र और समान होंगे और हर राष्ट्रिय इकाई स्वतन्त्र व्यक्तियों का समुदाय होगा। ऐसे आदर्श समाज में न मुद्रा न व्यवसाय वाणिज्य अपने परम्परा गत रूप में होंगे। वे विभिन्न केन्द्रों से वस्तुओं के आदान प्रदान मात्र होंगे। रेल, तार, हवाई सेवा देश के कल्याण के लिये होंगी। "इस व्यवस्था में लाभ की भावना के स्थान पर सम्पूर्ण समाज की सेवा की भावना होगी—प्रत्येक व्यक्ति सब के लिये और सब प्रत्येक व्यक्ति के लिये जीवित रहेंगे।[१७] स्वामी दयानन्द ने एक सच्चे समाजवादी की भाँति समाज के शोषित और पददलित वर्गों के स्वार्थ का समर्थन किया। उन्होंने कहा, "इस नवयुग में भगवान दलित वर्ग में प्रकट होंगे। महान धर्मोपदेष्टा उठ खड़े होंगे।" किन्तु उनका दृढ़ विश्वास था कि यह समाज व्यवस्था न तो बलात् शक्ति से स्थापित होगी और न केवल समाज की परम्परा बदलने से स्थापित होगी। मानव के दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। उसके स्वभाव में परिवर्तन अपेक्षित है। जो केवल शक्ति से समाज परिवर्तन करना चाहते हैं। ऐसे समाजवादियों के सम्बन्ध में वे कहते हैं, "वे भ्रान्त पथ पर चल रहे हैं। रक्तपात से कभी स्वतन्त्रता समानता, बन्धुत्व की स्थापना धरती पर न हो सकेगी। इस साध्य का साधन तो केवल आध्यात्मिक शक्ति और प्यार है।[१९] सामूहिक स्वार्थ नहीं, केवल प्रेम ही राष्ट्र और जाति निर्विशेष नये समाज की स्थापना में समर्थ है।

दयानन्द ने इन नियमों को आर्यसमाज के सङ्गठन में लागू किया और इसके तत्त्वावधान में कई आश्रमों की स्थापना हुई। आर्यसमाज का संघटनात्मक ढाँचा जनतान्त्रिक चुनाव पर आधारित है। आश्रम इसके सब सदस्यों की सामूहिक

14—सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका

15—Alokanand a Mahabharati op cit p. 12

१७. अलोकानन्द महाभारती, पृ० १७५, दयानन्द की कल्पना के आदर्शसमाज के लिए द्रष्टव्य है इस पुस्तक का "What is Thakur Dayananda's Scheme नामक अध्याय।

१८. वही पृष्ठ ३०-३१

१९. वही पृ० ३२

सम्पत्ति समझे जाते हैं और प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था सब के सहयोग से होती थी। ये अनेक धार्मिक गणतन्त्र (Republic) की तरह थे।'[२०]

यद्यपि दयानन्द के अपने विचार थे किन्तु वे 'मनमौजी' विचारक न थे, वे एक क्रियात्मक आदर्शवादी थे। उनका विश्वास था कि वैदिक सभ्यता के आदि स्थान भारत को विश्व में एक विशिष्ठ कार्य करना है। किन्तु जब तक भारत परतन्त्र है, वह उस काम को करने में असमर्थ है। इसलिए वे भारत को स्वतन्त्र करना चाहते थे और उन्होंने भारत की राष्ट्रियता को एक गतिशील दर्शन दिया। देश को सामाजिक और मानसिक रूप में स्वतन्त्रता के लिए तैयार करना, उनका कार्य था। उन्होंने स्वयं अंग्रेजों के विरुद्ध किसी राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लिया, किन्तु अंग्रेज सरकार को उनसे तथा आर्यसमाज से बड़ा भय था। जैसा रोमारोला ने कहा है :—

"वे (स्वामी दयानन्द) अपने को सदा राजनीति और अंग्रेजों के विरोध से अलग बताते थे, किन्तु अंग्रेज सरकार का निश्चय इससे भिन्न था।"[२१] एकबार स्वामीजी जब सिल्चर (असम) में थे तो पुलिस ने उन्हें और उनके दो शिष्यों को पकड़ लिया, किन्तु वे छोड़ दिये गये, क्योंकि किसी के पास उनके विरुद्ध कोई प्रमाण न था। किन्तु स्वामीजी के जो शिष्य सरकारी नौकरी में थे, उनपर सरकार सदा कड़ी निगाह रखती थी।[२२] यह साफ है कि अंग्रेजी शासन ने उनके उपदेश और कार्य के सुदूरगामी परिणाम और क्रान्ति को समझ लिया था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि 'दि टाइम्स' की ओर से सर वैलेण्टिन शिरोल (Sir Velentine Chirole) जब १९०७ की अशान्ति के पश्चात् उसके कारणों की खोज करने भारत आये तो उन्होंने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध आर्य समाज को एक बड़ा खतरा घोषित किया। इस दिशा में स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज का प्रभाव सुस्पष्ट है। यद्यपि इस विषय पर अब तक हमारे देश में कोई विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया है। जैकारियस ने ठीक ठीक ही कहा है कि, "स्वामी दयानन्द ने जिस मार्ग की कल्पना की थी, तिलक केवल उस पर चलते गये।"[२३] लाला लाजपत राय का राजनीतिक दृष्टिकोण आर्य-समाज के सिद्धान्तों के आधार पर था।

दयानन्द के विरुद्ध दो आक्षेपों का निराकरण :

स्वामी दयानन्द के प्रमुख अवदानों की एक रूपरेखा प्रस्तुत करने के पश्चात् उनके विरुद्ध दो आक्षेपों का निराकरण करते हैं। कुछ लोग उन्हें प्रतिक्रियावादी, नूतनता विरोधी और उद्धारवादी समझते हैं। उदाहरणार्थ, जैकेरियस ने लिखा है कि उनके (दयानन्द के) साथ भारतीय जन-जीवन में रुखाई का प्रवेश हुआ है।"[२४] क्या ये आक्षेप तर्क और ऐतिहासिक विश्लेषण के सम्मुख ठहर पाते हैं ?

यह सत्य है कि दयानन्द ने नूतन भारत के निर्माण का उत्साह विगत वैदिक भारत से प्राप्त किया था। किन्तु इस कारण उन्हें पुनरुद्धार युग अथवा योरुप के सुधारवादी आंदोलन के किसी नेता से अधिक प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता। पुनरुद्धार आंदोलन ग्रीक सभ्यता से उत्साहित हुआ था। सुधारवादी आंदोलन ईसाई चर्चों में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने के लिये मूल बाइबल की ओर मुड़ गया था। यदि ये आंदोलन वर्तमान योरुप की जड़ जमा सकते हैं तो क्या यह कहना तर्क सङ्गत है कि दयानन्द प्रतिक्रियावादी और नवीनता विरोधी थे ? श्री दुर्गाप्रसाद ने ठीक ही उनका

२०. वही पृ० ३२

२१—Romain Rolland, The Life of Rama Krishna, PP. 157-58

२२—Alokananda Mahabharati. Op. cit p. p. 67-68

२३—Zacharias, H. C. F. Revascent India p. 39

२४—वही पृ० ३९

वर्णन "भारत के लूथर"२५ के रूप में किया है। यह भूलना न चाहिए कि स्वामी दयानन्द का बड़ा तीव्र विरोध देश के परम्परावादी ब्राह्मणों ने किया था। न वे प्रतिक्रियावादी थे न परम्परावादी, नहीं ही उनका दृष्टिकोण योरुप की वर्तमान चमक दमक में चौंधिया गया था। इसलिये स्वामी दयानन्द की निन्दा परम्परावादी और नूतनतावादी दोनों ने किया।

अब दूसरे आक्षेप को देखें। दयानन्द शक्ति और गतिशीलता से भरपूर थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्रिय पुनरुद्धार निष्क्रियता गतिहीनता और पलायन से नहीं किया जा सकता। आस्था के उत्साह और उद्देश्य की ईमानदारी ने उन्हें प्रभावी बनाया। उनके विचारों और कार्यों ने भारतीय जनता में एक नये उत्साह और शक्ति की सृष्टि की उन्होंने अपना निवेदन "किसी शिक्षित अंग्रेज से नहीं बल्कि अपने देश के विस्तृत जन समुदाय से किया।"२६ उनके सन्देश ने भारतीय जनता के एक वर्ग को हिला दिया और उनके हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति अभिमान की भावना पैदा कर दी। अतः दयानन्द के साथ भारतीय जन जीवन में रुखाई का नहीं बल्कि आत्म सम्मान की भावना का जागरण हुआ। और भी जैसा डा० वर्मा ने कहा है, "दयानन्द और आर्य समाज में प्रकटित संघर्ष अंशतः भारत में स्थित इस्लाम और ईसाइयत के दृष्टिकोण के फलस्वरूप था।"२७

समापन दृष्टि :

स्वामी दयानन्द के जीवन विचार और कार्यों का विस्तृत अध्ययन डा० के० पी० जायसवाल के निम्न मत को पूर्ण प्रमाणित करेगा, "उन्नीसवीं शती में ऐसा एकेश्वरवाद का उपदेष्टा, मानव एकता का प्रचारक, आध्यात्मिक पूँजीवाद के विरुद्ध जेहाद करने वाला सफल अन्य कोई (दयानन्द के अतिरिक्त न था।२८ उनके विचारों की समीक्षा से ऐसी बहुत सी समस्याओं का समाधान निकलेगा जिनसे भारत परेशान है। भारत के इस सन्त को भुलाकर हम अपनी रक्षा भी न कर सकेंगे।+

२५—Durga Prasad, "An English Translation of the Satyarth Prakash of Maharshi Swami Dayanand. Sea Introduction p. XII.

२६—B. B. Mazumdar, History of the Indian Reformation p. 68

२७—Dr. V. P. Varma, op. cit. p. 59

२८—K. P. Jayaswal's article in Dayananda Commenoration Volume, p. p. 162-63

+ यह लेख श्री जी० पी० भट्टाचार्य के अंग्रेजी लेख का हिन्दी अनुवाद है। —सम्पादक

ओ३म्

महर्षि दयानन्द की देन

४

प्रो० जयदेव आर्य, एम० ए० वेदाचार्य विद्यावाचस्पति

प्राध्यापक संस्कृत विभाग जाट महाविद्यालय—हिसार (हरियाना)

महर्षि दयानन्द को सामान्यतः एक धार्मिक सुधारक के रूप में स्मरण किया जाता है परन्तु दुर्भाग्यवश मध्यकाल में धर्म शब्द के अतिसंकुचित अर्थों में रूढ़ हो जाने से इतने मात्र कथन से केवल महर्षि के वास्तविक विराटस्वरूप एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके महान् योगदान की अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु उससे उनके सम्बन्ध में साम्प्रदायिकता एवं संकुचितता की एक भ्रान्त धारणा का भी उदय होता है। अतः उनके वास्तविक स्वरूप ज्ञान के लिये या तो उन द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के विराट् स्वरूप को ध्यान में रखना होगा अथवा उन्हें केवल मात्र धार्मिक सुधारक से कहीं अधिक उच्चपद प्रदान करना होगा। श्रीमती सरोजिनी नायडू के शब्दों में "महर्षि दयानन्द उस दर्पण के समान हैं जिसमें लोग प्रत्येक प्रकार के रंग देखते हैं। कोई उन्हें ऋषि, कोई राजनीतिक नेता, कोई सच्चा मानव एवं कोई धार्मिक नेता कहता है और वह निस्सन्देह इन सब गुणों का समूह हैं। परन्तु मैं उन्हें बौद्धिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं हर प्रकार की दासता से मुक्तिदाता मानती हूं।" विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में "प्रणाम है उस महान् गुरु दयानन्द को जिन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से सर्व प्रथम भारत के आत्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा। जिस महान् गुरु के मनने भारत माता के जीवन के सब अंगों को अपनी दिव्य ज्योति से ज्योतित कर दिया।" विट्ठल भाई पटेल के शब्दों में "वह एक सच्चे राजनीतिक नेता हैं" तो विपिन चन्द पाल के शब्दों में वह "स्वतन्त्रता के देवता तथा शान्ति के राजकुमार" हैं। नेताजी सुभाष उन्हें १९२९ के अपने अमरावती के भाषण में संसार के राजनीतिक नेताओं एवं पथ प्रदर्शकों में सर्वोच्च स्थान (१) देते हुये कहते हैं, मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि उनकी स्थापित आर्यसमाजें अपने संस्थापक के अनुरूप बनें जिससे वे हमारी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक एवं आर्थिक उन्नति का कारण बन सकें जिसके लिये कि हम इतना तड़प रहे हैं।" इन श्रद्धाञ्जलियों से स्पष्ट है कि महर्षि की दृष्टि से मानवजीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है जिस पर उन्होंने विश्व का मार्ग प्रदर्शन न किया हो। इसी परिप्रेक्ष्य में हम इस लघु निबन्ध में उनकी बहुविध देने पर संक्षेप से विचार करेंगे।

महर्षि दयानन्दकी सर्वश्रेष्ठ देन है 'धर्म के वास्तविक स्वरूपका उद्घाटन।' उनसे पूर्व धर्म शब्द अतिसंकुचित

(१) महर्षि दयानन्द संसार की नज़रों में (उर्दू, लाः उलफतरायकृत १९३३

सम्प्रदायिक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता था। मनुष्य-जीवन को ऊंचा एवं पवित्र बनाने से उसका कोई सम्बन्ध न था। अमुक चिन्ह धारण, अमुक नाम स्मरण, अमुक धार्मिक क्रियाएँ अमुक नदी में स्नान, अमुक स्थान की यात्रा, अमुक प्रकार का धर्म स्थान निर्माण, अनेक असम्भव चमत्कार दिखला कर सब सृष्टिनियमों का उल्लंघन करने वाले अतएव ईश्वर के प्रतिनिधि दूत, पुत्र, अथवा अवतार पर और उस द्वारा रचित पुस्तक पर तथा उसकी गद्दी पर वर्तमान में अधिष्ठित गुरु पर बिना किसी तर्क या संशय के पूर्ण अन्धविश्वास से आत्मसमर्पण, अन्यमतस्थ लोगों की हत्या, देवी देवताओं पर अपना या दूसरों का बलिदान, परलोक की इच्छा से इहलोक में पूर्ण सुख-पराङ्मुखता, वैज्ञानिक अविष्कारों से पूर्ण घृणा, विजातीय अथवा विदेशीजनों से अस्पृश्यता अथवा स्वयं निर्मित भोजन का ग्रहण—ये थीं विभिन्न मतवादियों की धार्मिक मान्यताएं, मुक्तिका एक मात्र साधन और इनसे भिन्न सब कुछ था अधर्म और नरक द्वार। महर्षि ने मानव को मानव का शत्रु एवं दानव बना देने वाली, धर्म के वास्तविक स्वरूप पर जमी, इन बाह्याडम्बरों एवं दानवीय प्रवृत्तियों की गहरी परतों को एक झटके से उखाड़ कर धर्म के वास्तविक जीवन दायक स्वरुपको हमारे नेत्रों के समक्ष प्रस्फुरित कर दिया। उन्होंने कहा कि धर्म केवल परलोक का नहीं अपितु इहलोक की उन्नति का भी साधक (२) है और वह बाह्य चिन्ह धारण (३) अथवा कर्मकाण्ड की सम्पन्नता में नहीं अपितु धृति, क्षमादि मनुक्त गुणों (४) से अपनी आत्मा को पवित्र बनाने में ही उसका स्वारस्य है। उन्होंने स्वयं सन्ध्या, यज्ञ, यज्ञोपवीत आदि पर बल दिया परन्तु उन्हें जीवन का साध्य न कह कर उसे ऊँचा उठाने का साधन मात्र घोषित किया। जो बाह्य यज्ञ करता है पर अपना जीवन यज्ञमय अर्थात् परोपकारमय नहीं बनाता, जो ईश्वर नाम लेता है पर स्वजीवन में ईश्वर के दयादि गुणों के धारण का निरन्तर प्रयास नहीं करता, जो यज्ञोपवीत पहनता है पर उसके तीन सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट अपने त्रिप्रकारक कर्तव्यों को पूर्ण नहीं करता, उसके ये बाह्य कर्मकाण्ड एवं चिन्ह सर्वथा व्यर्थ हैं (५) कहीं भी जन्मा, कोई भी व्यक्ति, केवल सदाचरण से ही ईशकृपा और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उसे किसी भी व्यक्ति या पुस्तक पर अन्धविश्वास रखना न आवश्यक है और न मोक्ष प्राप्ति में सहायक। पीर पैगम्बरों के असम्भव चमत्कारों की मान्यताएं मिथ्या हैं। विद्या, बुद्धि तर्क एवं विज्ञान धर्म विरोधी नहीं अपितु धर्म के अभिन्न अङ्ग हैं (६)। अतः कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो उसे केवल सुचरित एवं विद्या बुद्धितर्कानुमोदित उपदेश ही आचरणीय हैं अन्य नहीं (७) हमारा उपास्य केवल समस्त जगत का स्रष्टा, पालक, तथा संहर्ता ईश्वर ही है—कोई अन्य नहीं (८) केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है क्योंकि उसमें कोई भी बात बुद्धि या सृष्टिनियम के विरुद्ध नहीं (९)। यह संसार तथा मानव शरीर मिथ्या अथवा दुःखों का घर नहीं अपितु शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति में प्रयत्नशील रहकर मोक्ष प्राप्ति का साधन है (१०) इसे निष्प्रयोजन

(२) यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक १।१।२

(३) न लिंगं धर्मकारणम्॥ मनु एवं स० प्रकाश समु० ५

(४) मनु० ६।९२।

५—जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवें और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्तन करता जाता है और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है। स० प्रकाश समु० ७॥

६—यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेदनेतरः। मनु०।
तृण (कहीं २ पृथिवी) से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थोंका यथावत् ज्ञान करना चाहिये। स० प्रकाश समु० ३।

७—यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। स० प्र० भूमिका तथा समु ३॥ ८—आर्य समाज का द्वितीय नियम। ९—बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे वैशेषिक ६।१।१॥ १०—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। मनु०॥ तथा आर्य समाज के षष्ठ तथा नवम् नियम।

कष्ट देना अथवा नष्ट करना अधर्म है। ईश्वर सर्वव्यापक हैं। अतः उसकी प्राप्ति अपने अन्दर होगी, कहीं बाहर नहीं। इस प्रकार महर्षि ने धर्म पर किसी के भी एकाधिकार को पूर्णतया समाप्त कर घोषणा की कि सभी प्राणी उस ईश्वर के समान रूप से कृपा पात्र पुत्र हैं—(११) कोइ व्यक्ति-विशेष नहीं। उन्होंने धर्म को मन्दिरों-मस्जिदों के बन्द, अन्धकारपूर्ण तथा संकुचित कमरे से निकाल कर खुले प्रकाशमय क्रियात्मक जीवन रूपी उपवन में (१२) प्रवेश दिलवाया। और बतलाया कि कृतकर्मफल भोग आवश्यक है (१३) अतः शुभकर्म ही करो। पापमुक्ति सम्भव नहीं।

सर्वाङ्गीण धर्म

महर्षि का धर्म पूजापाठ तक सीमित न होकर मानव जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के साधनों को अपने में समेटे हुए हैं। उनका धर्म यज्ञरूप है और यज्ञ में योग-साधन से लेकर शिल्पशास्त्र तक सभी लोकोपकारी, श्रेष्ठतम कार्य सम्मिलित हैं। १४। इसीलिये उनके ग्रंथों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति आदि सभी मानव जीवनोपयोगी विधानों का वर्णन हुआ है। मानव जीवन की बाल्य, युवा एवं वृद्ध—इन तीनों अवस्थाओं में से बाल्यावस्था के कर्तव्य कर्मों का विवेचन सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय तथा तृतीय समुल्लासों में, युवावस्था का चतुर्थ तथा वृद्धावस्था का विवेचन पंचम समुल्लास में हुआ है। मानव के ईश्वर के प्रति, अपने प्रति, तथा अन्यों के प्रति कर्त्तव्यों में से प्रथम का उल्लेख आर्यसमाज के प्रथम दो नियमों में किया तो दूसरे का तृतीय-चतुर्थ में तथा तीसरे का ५-१० नियमों में। ईश्वर के विभिन्न नामों की व्याख्या सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम, घर में बाल शिक्षा की द्वितीय और गुरुकुल में तृतीय, गृहाश्रम की चतुर्थ, वानप्रस्थ संन्यास की पंचम, राजनीति की षष्ठ, वेद ईश्वर की सप्तम, सृष्टि-उत्पत्ति स्थिति-प्रलय की अष्टम, बन्ध-मोक्ष की नवम तथा आचार-अनाचार एवं भक्ष्याभक्ष्य विषय की दशम समुल्लास में व्याख्या करके उन्होंने, धर्म के विराट स्वरूप का दर्शन करवाया। स्वामी वेदानन्दजी द्वारा सम्पादित सटिप्पण सत्यार्थ-प्रकाश में दी गई अकारादि विषयानुक्रमणिका पर दृष्टि डालने से मानवबुद्धि चमत्कृत होकर रह जाती है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित सर्वाङ्गीण धर्म के क्षेत्र तथा महर्षि की दिव्य दृष्टि से मानवजीवन तथा बुद्धि से सम्बन्धित कोई भी तो विषय अछूता नहीं बचा है जिस पर उन्होंने कुछ न कुछ प्रकाश न डाला हो। महर्षि से पूर्व तथा पश्चात् हुए दूसरे धर्माचार्यों के ग्रन्थों में हमें ऐसी विशाल एवं सुलझी हुई दृष्टि का दर्शन नहीं होता। महर्षि से पूर्व राजा राममोहनराय ने इस दिशा में अवश्य कुछ प्रयत्न किया था परन्तु फिर भी महर्षि की अपेक्षा उनके प्रचार का विषय क्षेत्र तथा प्रभाव अतिसीमित नगण्य प्रायः ही था।१५। महर्षि ने धर्म को उसके समन्वित रूप में देखा। जहां महात्मा बुद्ध ने आत्मपरमात्म-परक ज्ञानकाण्ड, यज्ञपरक कर्मकाण्ड तथा ईश्वरोपासनापरक उपासना काण्ड की उपेक्षा कर केवल श्रेष्ठाचरण पर जोर दिया, शंकर ने केवल ज्ञानकाण्ड की महिमा गाई और भक्ति युग के सन्तों ने सब कार्य परित्याग कर केवल आत्मस्मरण को जीवन सार माना वहाँ महर्षि ने तीनों को समानरूपेण महत्वपूर्ण, आवश्यक एवं अन्योन्यपूरक बतलाया।

११—शृण्वन्तु सर्वेऽमृतस्य पुत्राः तथा कृण्वन्तो विश्वमार्यम। वेद॥

१२—धारणाद्धर्म इत्याहुः (महाभारत।

१३—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्मशुभाशुभम्।

१४—यज्ञोवै श्रेष्ठतमम् कर्म। शतपथ। तथा ऋषिकृत ऋक् तथा यजुः भाष्य।

१५—"ब्राह्म समाज जहाँ सौ वर्ष में तीन चार हजार से अधिक ब्राह्मवादी न बना सका वहाँ पर सन् १८९१ में ही आर्यसमाजियों की संख्या ४०००० हजार हो चुकी थी और आज लगभग १० लाख है। विवेकानन्द चरित। सत्येन्द्रनाथ मजुमदार कृत (हिन्दी) पृष्ठ ३८३॥

विचार-स्वातन्त्र्य

महर्षि दयानन्द धर्मक्षेत्र में विचार-स्वातन्त्र्य के अग्रदूत तथा गुरुडम के प्रबल शत्रु थे। उन्होंने न गुरुगद्दी स्थापित की, न अपना उत्तराधिकारी चुना और नहीं आर्यसमाजियों के लिये अपने ग्रन्थों को मान्य ठहराया।७ जहाँ इस्लाम और ईसाइयत१६ तलवार के बल पर फैले, वहाँ आर्यसमाज ने निर्भीकता से स्वसिद्धान्तमण्डन और परमतखण्डन करते हुए भी अपने सिद्धान्त बलात् किसी पर लादने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु इसके विपरीत दूसरे मतस्थ भले लोगों१७ को स्वमंच से बोलने का १८ अवसर दिया। पण्डित लेखराम, अछूतोद्धारक रामचन्द्र, पण्डित तुलसीराम स्टेशन-मास्टर, आदि अनेक आर्यों को क्रमशः मुसलमानों, पौराणिकों तथा अहिंसावादी जैनों ने कत्ल किया पर आर्यसमाज के इतिहास में किसी भी विधर्मी को मारने की एक भी घटना दिखाई न पड़ेगा। महर्षि के सरसैय्यद अहमदखाँ तथा पादरी स्काट जैसे विधर्मियों से बड़े मधुर सम्बन्ध थे। आर्यसमाज ने दैवी-विपत्तियों में अपने सहायता-शिविरों में बिना साम्प्रदायिक भेदभाव के सब पीड़ितों की समान रूप से सहायता की है। वस्तुतः आधुनिक युग में सच्ची मतनिरपेक्षता (सैक्युलैरिज्म) की स्थापना का श्रेय महर्षि को ही है।

दार्शनिक देन।१९।

महर्षि ने सांसारिक उन्नति से विमुख करने वाले शंकर के 'ब्रह्मसत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः'के अद्वैत, रामानुजादि वैष्णवाचार्यों के अवतारवाद-प्रतिष्ठापक विशिष्टाद्वैत आदि, जैनों और बौद्धों के स्याद्वाद सप्तभंगीनय, शून्यवाद तथा क्षणिकवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की युक्तियुक्त समालोचना करके दार्शनिक जगत् में 'त्रैतवाद' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। जहाँ शंकर जैसे दार्शनिक भी छओं दर्शनों में विरोध मानकर वेदान्तेतर दर्शनों का खण्डन करते थे वहाँ महर्षि ने षड्दर्शन समन्वय सिद्धान्त२०—स्थापित किया और कपिल को ईश्वरवादी२१ ठहराया। 'मोक्ष से पुनरावृत्ति'२२ मानी। ईश्वर-प्रत्यक्ष का सिद्धान्त दिया। ये महर्षि की विशिष्ट दार्शनिक देन हैं।

साहित्यिक देन

महर्षि ने साहित्यिक जगत् में तो युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। मैक्समूलर के शब्दों में १९ वीं शती का सबसे बड़ा आविष्कार वेदों का आविष्कार है और इसके आविष्कारक निस्सन्देह महर्षि दयानन्द हैं। जिस समय मैकाले ने अंग्रेजी साहित्य के एक खाने को समग्र भारतीय साहित्य से अधिक मूल्यवान घोषित किया था तब महर्षि ने चारों मूल वेदों को सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक घोषित कर मैकाले के उस गर्व को चूर-चूर कर दिया। योगीराज अरविन्द२३ जैसे अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने महर्षि की वैदिक स्थापना से प्रभावित हो वेद पर विपुल साहित्य की रचना की। जहाँ शंकर,

---

१६—देखो, इन्क्विजिन कोर्टस् तथा जीस्वीटस् का इतिहास।

१७—यह बड़े अन्धेर की बात है कि मुसलमान और अंग्रेज जो भले आदमी हैं उनसे तो छूत गिनना और वेश्यादिकों में छूत न मानना। आदिम स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त। स्वामी श्रद्धानन्द कृत पृष्ठ ८२।

१८ देखो आर्य समाज बम्बई का प्रारम्भिक इतिहास।

१९ आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डाक्टर वेदप्रकाश का 'आधुनिक युग को महर्षि की दार्शनिक देन' नामक शोध-प्रबन्ध।

२० देखो प० बुद्धदेव मीरपुरी तथा स्वामी ओमानन्द कृत "षड्दर्शन समन्वय" नामक ग्रन्थ द्वय।

२१ आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत सांख्यदर्शन पर तीन ग्रन्थ।

२२ गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत लघु निबन्ध।

२३ "मेरे विचार में तो वेदों में विज्ञान के तत्व भी हैं जिन से आधुनिक जगत सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार दयानन्द वैदिक प्रज्ञा की गम्भीरता और उच्चता अधिक नहीं, कुछ कम ही प्रदर्शित की है। दयानन्द और वेद नामक निबन्ध।

रामानुजादि मध्यकालीन तथा राममोहनराय२४ आदि नवीन आचार्यों की गति अधिकाधिक उपनिषदों तक थी और सायणादि आचार्यों ने वेदों को केवल कर्मकाण्डपरक माना था वहाँ महर्षि ने निरुक्त प्रणाली पर किये स्वभाष्य में उन्हें धर्म का आधार२५ घोषित किया। उन्होंने वेद में इतिहास, पशु-हिंसा, अश्लीलता, बहुदेवतावाद, मैक्समूलर-प्रतिपादित हीनोथीउम२६। अद्वैतवाद तथा जादू-टोना 'ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं शाखाओं का वेदत्व' आदि प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का प्रबल युक्तियों एवं प्रमाणों से निराकरण कर न केवल वेदभाष्य पद्धति में क्रान्तिकारी नवयुग की आधार-शिला रखी२७ अपितु कुरान और बाइबल आदि की आलोचना कर उन्हें भी एक नवीन भाष्यपद्धति प्रदान की।२८ महर्षिकृत आलोचना के प्रकाश में प्रमुख मान्य धर्म-ग्रन्थों तथा चमत्कारों२९ की सर्वथा नवीन, बुद्धिगम्य व्याख्या की गई।३० महर्षि द्वारा आलोचना के लिये सर्वप्रथम हिन्दी में करवाए गए कुरान-भाष्य की भाषा-शैली मुसलमानों द्वारा बहुत पसन्द की गई। हिन्दी में सभी प्रकार के शास्त्रीय गम्भीर साहित्य३१ का प्रचलन उन्हीं के प्रयास की महान देन है। मूल जैन-साहित्य का प्रकाशन उन्हीं की आलोचना का परिणाम है।

ऐतिहासिक देन

महर्षि ने कई क्रान्तिकारी ऐतिहासिक स्थापनाएँ की। 'आर्य यहीं के आदिवासी' ३२ तथा 'द्राविड़ कोल, भील आदि उन्हीं की सन्तान' ३३ हैं। महर्षि की यह स्थापना द्रविड़ कषगम के पृथक्तावादी आन्दोलन को समूल नष्टकर अखण्ड राष्ट्रीयता की स्थापक है। 'आर्य मद्य मांससेवी नहीं थे', 'मानवजाति का उत्पत्तिस्थान तिब्बत' ३४ है और 'यह आर्यावर्त का भाग था, आर्यों का संसार में चक्रवर्ती राज्य रहा है', 'वेद अनादिकाल से हैं', 'पुराण वेदव्यासकृत नहीं', 'श्रीकृष्ण दुराचारी नहीं थे' आदि महर्षिकृत स्थापनाएँ अनेक

---

२४ अरविन्द कृत 'दयानन्द दि मैन एण्ड हिज़ वर्क' तथा महर्षि दयानन्द और राजाराम मोहन राय-भवानीलाल भारतीय पृ० २१।

२५ वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनुः।

२६ - मैक्समूलर ने वेदों को बाइबल से हेय सिद्ध करने के लिये इस वाद की स्थापना की जिसका निराकरण महर्षि ने कर मैक्समूलर की योग्यता का भण्डाफोड़ किया और वेद में एकेश्वरवाद की स्थापना की। मैक्समूलर ने १८५९ में वेदकाल भी १२०० ई० पू० माना था, पर फिर महर्षि से बहुत प्रभावित हो उसने १८८९ में गिफ्फर्ड लैक्चर्ज् "में वेदकाल निर्णय को असम्भव बतलाया। यह महर्षि का प्रभाव था जबकि स्वामी विवेकानन्द ने मैक्समूलर को 'भारतीय ऋषि' कह कर उनकी प्रशंसा की थी।

२७—डा० सुधीरकुमार गुप्त का पी० एच० डी० शोध प्रबन्ध "वेदभाष्य पद्धति को महर्षि दयानन्द की देन।"

२८—देखो सरसैयद अहमद खां, मौलाना मुहम्मद अली, एम० ए०, मौलाना सनाउल्ला तथा मौलाना आज़ाद आदिकृत कुरान भाष्य, बाईबिल पर पादरी सण्डलैण्ड, जैन-मत पर बच्छराज सिंघी कृत "जैन शास्त्रों की असंगत बातें", पण्डित बेचरदास कृत "जैन साहित्य में विकार", जगमन्दिरलाल जैनी कृत "आउटलाइन्स आफ् जैनिज्म" आदि कृतियां तथा पं० मदनमोहन मालवीय तथा अन्य पौराणिकों द्वारा प्रकाशित पुराणों के संशोधित संस्करण।

२९—यथा अयोध्यासिंह उपाध्याय, "हरिऔध" के "प्रिय-प्रवास" में कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन-पर्वत-धारण की नवीन व्यवस्था।

३०—महर्षि ने वेद-भाष्य, अष्टाध्यायी-भाष्य, वेदांग-प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका आदि गम्भीर ग्रन्थ हिन्दी में तब लिखे जब पण्डितगण भाषा-ग्रंथों को हेय दृष्टि से देखते थे। गुरुकुल कांगड़ी ने सभी विषयों पर उच्च कोटि के अनेक ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित किये।

३१—"आर्यों का आदि देश" डा० सम्पूर्णानन्द कृत।

३२—पौण्ड्काश्चौण्ड्र द्रविड़ों ………आदि मनु १०। ४३-४४ तथा महाभारत शान्ति पर्व ६५।१४०।

३३—इसीलिये तिब्बत (त्रिविष्टप) ही स्वर्ग कहलाया। चीनी भी पुराने तिब्बत के ही भाग चीनी-तुर्किस्तान (सिक्यांग) को अपना उद्भव-स्थान मानते हैं। देखो सत्यार्थ-प्रकाश का प्रभाव। स्वामी वेदानन्द कृत पृ० ६।

३४. न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि। हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्।

अनेक इतिहासविदों द्वारा आज मान्य हैं। महर्षि ने पण्डों की बहियों और दान विषयक ताम्रपत्रों की चर्चा तथा महाराज युधिष्ठिर के पश्चात् हुए राजाओं की नामावली का समावेश सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में कर भारतीयों का ध्यान अपने प्राचीन इतिहास की ओर आकृष्ट किया।

शैक्षणिक देन

शिक्षाक्षेत्र में आज जो समस्याएँ हमारे शिक्षाशास्त्रियों के मस्तिष्क को उद्वेलित कर रही हैं, उनका समाधान आज से सौवर्ष पूर्व ही महर्षि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में कर दिया था। जब मैकाले ने भारतीय काले अंग्रेजों को उत्पन्न करने वाली आधुनिक शिक्षाप्रणाली को जन्म दिया उसी समय महर्षि ने राष्ट्रीय शिक्षा का उद्घोष करके शिक्षाक्षेत्र में नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया जिसने गुरुकुल कांगड़ी और डी॰ ए॰ वी कालिज लाहौर आदि के रूप में पल्लवित होकर ब्रिटिश शासन को हिला दिया, जिससे इन संस्थाओं की जांच के लिये ब्रिटिश शासन को रूमजे मैक्डानल्ड को भारत भेजना पड़ा। जब एक ओर राममोहनराय ३५ तथा सरसैयद अहमद खां जैसे महानुभाव भी केवल अंग्रेजी शिक्षा—पद्धति में ही कल्याण देखते थे, तब महर्षि ने एक आदर्श तथा यथार्थ का समन्वयवादी दृष्टिकोण हमें दिया। उन्होंने यथासम्भव विदेशी भाषाओं के अध्ययन की भी प्रेरणा भारतीयों को दी ३६ परन्तु सर्वप्रमुख स्थान अपनी भाषा संस्कृत और हिन्दी को देने का आग्रह किया। वर्तमान भाषायी आन्दोलन का आदर्श यही है। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में प्रथम संस्करण में अंग्रेजी के "गौड्" आदि शब्दों का मूल परमात्मा के लिये आये विशेषण 'गुद' आदि संस्कृत शब्दों में दर्शाकर ३७ संस्कृत का सर्वभाष मूलत्व ३८ स्थापित करते हुये हमें भाषा विज्ञान की ओर उन्मुख किया।

महर्षि ने उस समय अपनी सन्तानों को पाठशाला न भेजने वाले माता पिता के लिये राज्य द्वारा दण्ड तथा प्रत्येक विद्यार्थी को समान वस्त्र, खान-पान तथा आदान प्रदान का विधान कर ३९ जो समाजवादी दृष्टिकोण दिया, उसे आर्यसमाज के गुरुकुलों ने व्यावहारिक रूप प्रदान कर शिक्षाक्षेत्र में एक चामत्कारिक कार्य किया। महर्षि ने अपनी दूर दृष्टि से उस समय कुछ भारतीय छात्रों को तकनीकी शिक्षा के लिये जर्मनी भेजने की योजना बनाई ४० और श्यामजी कृष्ण वर्मा को पढ़ने तथा वैदिक-धर्म प्रचार के लिये स्वयं इङ्गलैण्ड भेजा। आज विद्यार्थियों की जिस अनुशासनहीनता और चरित्रहीनता को लक्ष्य कर श्री प्रकाश एवं कोठारी कमीशन आदि अनिवार्य धार्मिक शिक्षा की बात कहते हैं, महर्षि ने उसका निर्देश उसी समय किया था, कि बालकों को माता पिता घर में ही आरम्भ से सदाचार की शिक्षा दें ४१ और विद्यालयों में केवल सदाचारी अध्यापक, अध्यापिकाएं ही रखे जाएँ। ४२ इस सदाचार की शिक्षा के लिये उन्होंने स्वनिर्मित पाठ्यक्रम में "व्यवहारभानु" नामक एक स्वतन्त्र लघु ग्रन्थ की रचना की। आज जहां फैशन में पले शिक्षितों को ग्राम सेवा और विद्यालयों में विद्यार्थियों को श्रम कार्य (मैनुअल वर्क) के लिये प्रेरित किया जाता है उसका विधान भी महर्षि ने यह लिख कर किया था कि चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये। ४३ इङ्गलैण्ड के वर्तमान राजकुमार

---

३५. महर्षि दयानन्द राजारामगोहनराय—भवानीलाल भारतीयकृत पृ० ९६-१०५।

३६. मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा अन्य किसी देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु गुण ही होता है। आदिम स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त पृ० ८८। स० प्र० समु० २ तथा महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन।

३७. स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त पृ० ७९।

३८. देखो भगवद्दत्तकृत 'भाषा का इतिहास'।

३९. स० प्र० समु० ३।

४०. 'पत्र और विज्ञापन' में जर्मन प्रोफेसर 'बीस' के साथ हुआ पत्र-व्यवहार।

४१. स० प्र० समु० २।

४२-४३. वही समु० ३।

ने भी पर्याप्त समय तक कड़ा शारीरिक श्रम करवाने वाले एक विद्यालय में शिक्षा पाई है। आज की एन० सी० सी० के समान महर्षि ने कैकेई का उदाहरण देकर कन्याओं तक के लिये धनुर्वेद-शिक्षा का विधान किया है। ४४

सह शिक्षा के जिन भयंकर परिणामों की चर्चा अमरीकन बाल-अपराधों के अर्जेलिण्डसे ने की और जिस सह शिक्षा के कारण पश्चिमी देशों में अवैध बच्चों तथा विवाह विच्छेदों की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि पर है, उसे ध्यान में रखते हुए महर्षि ने बालकों तथा बालिकाओं के विद्यालय एक दूसरे से तथा भीड़-वाले नगरों से बहुत दूर स्थापित करने तथा अध्ययन समाप्ति तक माता पिता से न मिलने का निर्देश किया, जिससे उनका चित्त अध्ययन से विचलित न हो। इसी प्रकार गुरु शिष्य का पारस्परिक सम्पर्क घनिष्ठ होता है, जिसके उद्देश्य से आज कल आवास (रेजीडेन्शियल) विश्वविद्यालयों को महत्व दिया जा रहा है। यद्यपि सहशिक्षा होने से उच्छृङ्खलता, फैशन एवं फजूल खर्ची वहां खूब बढ़ रही है। यह महर्षि की शिक्षा की उपेक्षा का अवश्यम्भावी परिणाम है। कहना न होगा, आधुनिक काल में स्त्री-शिक्षा के महर्षि दयानन्द तथा आर्यसमाज ही सर्वप्रथम प्रतिष्ठापक हैं और आर्यसमाज द्वारा अनेक विशाल महिला-शिक्षण संस्थाएँ स्थापित हुई हैं।

सामाजिक देन

चिरकाल से सन्तसम्प्रदाय जनता को 'तुझको परायी क्या पड़ी, अपनी निबेड़ तू' तथा 'संसार मिथ्या है' आदि मन्त्र पढ़ाता हुआ केवल आत्मोद्धार का उपदेश करता था। निठल्ले साधुओं की संख्या वृद्धि पर थी, ऐसे समय महर्षि ने आर्यसमाज के षष्ठ, नवम तथा दशम नियम में हर व्यक्ति द्वारा सामाजिक उन्नति के प्रयत्न को आवश्यक ठहराया। दशम नियम तो समाज-शास्त्र का सार है जिसके अनुसार हमें स्वतन्त्रता उन्हीं कार्यों के करने व न करने में है, जिनका प्रभाव केवल हम तक सीमित रहे, पर समाज को प्रभावित करने वाले कार्यों में हमें अपनी इच्छा को प्रधानता न देकर समाजहित को ही सर्वोपरि समझना चाहिये। महर्षि ने पाखण्डी मूर्ख साधुओं की राज्य द्वारा हलादि कार्यों में नियुक्ति का और संन्यास से पूर्व परीक्षा का विधान४५ किया। महर्षि ने जिस अछूतोद्धार आन्दोलन को जन्म दिया४६ उसी के परिणामस्वरूप स्वामी श्रद्धानन्द ने तिलक-फण्ड में से पाँच लाख रुपये की राशि पृथक निकाल कर अमृतसर में १९१९ की कांग्रेस में अछूतोद्धार कार्यक्रम को कांग्रेस-कार्यक्रम में सम्मिलित करने का प्रस्ताव पारित करवाया, जिसे पश्चात् गान्धीजी और मालवीयजी ने भी अपनाया। महर्षि की शिक्षा से प्रभावित बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ अछूतों की शिक्षा का प्रबन्ध कर राष्ट्र को डा० अम्बेडकर जैसा महान् विधिवेत्ता प्रदान किया। उन्हीं की कृपा से लाखों अछूत मुसलमान होकर पाकिस्तान समर्थक बनने से बचे। महर्षि द्वारा प्रदत्त सिद्धिमन्त्र४६ का यदि हिन्दू-समाज और काश्मीरी४७ पण्डित विरोध न करते तो न पाकिस्तान के समर्थक इतने रहते और न काश्मीर की समस्या आज हमारे सम्मुख होती। महर्षि ने उन सब लोगों को, जिन्हें हिन्दु म्लेच्छ या शूद्र कह कर घृणा की दृष्टि से देखते थे, ४८ वैदिक

४४. वही समु० ३ आर्यकन्या महाविद्यालय बड़ोदा में आरम्भ से ही कन्याओं को घुड़सवारी और धनुर्वेद आदि की शिक्षा दी जाती है।

४५. आदिम स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त पृ० ७३।

४६. सरदार पटेल द्वारा ऋषि को श्रद्धांजलि—हिन्दुस्तान टाइम्स् ११-११-१९५०।

४७. महर्षि ने राज्य के स्थायित्व के लिये महाराजा काश्मीर को शुद्धि-व्यवस्था बनाकर भेजी थी, जिसके अनुसार शुद्धि करने के इच्छुक महाराज को वहाँ के पण्डितों के विरोध ने रोक दिया।

४८. स्वामी शंकराचार्य शूद्रों को श्मशान से उपमा देकर वेद के श्रवण, उच्चारण तथा धारण के अपराध में उनके श्रोत्रजिह्वाहृदयादि अंगों को नष्ट करने का विधान करते हैं। ब्रह्मसूत्र भा० १।३।३८।

धर्म में आने, आर्य कहलाने तथा वेद पढ़ने का अधिकार प्रदान कर ४९ अपनी सार्वभौमिकता का परिचय दिया तथा निरन्तर रिसने वाले हिन्दू-समाजरूपी तालाब को, जिसमें से पानी बाहर तो निकलता रहता था, मगर अन्दर नहीं आ सकता था, शुष्क होने से बचा लिया५० ।

महर्षि के प्रभाव के सुपरिणामस्वरूप बाल, वृद्ध तथा बहुविवाहों, कन्यावध तथा यज्ञों में या देवी-देवता आदि पर पशुबलि के विरुद्ध जनमानस में तीव्र आक्रोश जागृत हुआ और लाखों कन्याओं और पशुओं की प्राणरक्षा हुई। ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर द्वारा देखे गये विधवा विवाह-प्रथा५१ के स्वप्न को मूर्तरूप देने का श्रेय महर्षि दयानन्द के आर्यसमाज द्वारा प्रसारित स्त्री-पुरुष समानाधिकार तथा सर्वजनकल्याण की भावना को ही है। महर्षि ने ही विधर्मियों की गोद में जाने वाले अनाथ बच्चों की सर्वप्रथम सुध ले फिरोज़पुर में सर्वप्रथम अनाथालय खोला५२ । महर्षि ने रेवाड़ी में सर्वप्रथम गोशाला खोली। महर्षि ने समुद्रयात्रा पर लगे प्रतिबन्ध को उड़ाकर संसार में वैदिक-धर्मप्रसार तथा व्यापार के महत्व को बढ़ाया। हिन्दुओं का पण्डों द्वारा सर्वस्व हरण करने वाली दानप्रथा, जिसके अधीन लड़कियों का पण्डों को दान तथा मूर्तियों से विवाह तक पुण्य समझा जाता था, का महर्षि ने विरोध कर दान, श्रद्धा तथा शक्ति-अनुसार५३ लोकोपकारी विद्यादि कार्यों के लिये ही उचित' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। स्त्रियों का दम घोटने वाली पर्दाप्रथा५४ समाप्त हुई तथा स्त्रियों को समाज में सम्मानजनक स्थान मिला। जहाँ स्वामी शंकर ने कन्याओं का पाण्डित्य केवल गृहतन्त्र तक ही सीमित रखा था५५ वहाँ महर्षि ने उन्हें लड़कों के समान ही सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा, यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन का अधिकार दिलाया।५६ महर्षि ने गुण-कर्म-स्वभावा-नुसार वर्णव्यवस्था निर्धारण में अन्य वर्ण को प्राप्त हुई सन्तानों के विनिमय में दूसरे वर्ण से आई सन्तानों को देने-दिलाने का विधान करके५७ तो आज के तथाकथित साम्यवाद को भी कहीं पीछे छोड़ दिया है।

विवाह व्यवस्था की देन

विवाह की समस्या भी आज की प्रमुख समस्याओं में से एक है। महर्षि ने गृहस्थाश्रम निन्दकों की आलोचना करते हुए इसे श्रेष्ठ एवं पूर्ण वैराग्य तथा आत्मसंयम के अभाव में तथा सृष्टिसूत्र संचालनार्थ अनिवार्य घोषित किया। विवाह में दहेज तथा अन्य अपव्यय की निन्दा करते हुए५८ उन्होंने ब्राह्म-विधि को सर्वश्रेष्ठ कहा। उन्होंने लड़के और लड़की की परस्पर सहमति के बिना समाज द्वारा विवाह-निषेध, उपयुक्त साथी की खोज के लिये एक दूसरे के गुणों का विवरण, चित्र-प्रदर्शन, माता-पिता तथा आचार्य द्वारा परस्पर वार्तालाप की व्यवस्था तथा उपयुक्त वर के बिना कन्या के आमरण पितृ-गृहनिवास का विधान५९ किया। उन्होंने 'अष्टवर्षाभवेद्-

४९. यजु० २६।२।

५०. हिन्दुशुद्धि सभा तथा दयानन्द साल्वेशन मिशन ने लाखों विधर्मियों या विधर्मीबनों की शुद्धि से राष्ट्रियता को सुदृढ़ किया।

५१. महर्षि के पूना व्याख्यानों का संग्रह 'उपदेशमञ्जरी' द्रष्टव्य।

५२. भिवानी, दिल्ली आदि नगरों में भी आर्यसमाज ने अनाथालय खोले।

५३. वेदभाष्य के लिये एक सज्जन की सारी सम्पत्ति १० हजार रुपये लेने से इन्कार कर ऋषि ने केवल एक हजार रुपया लिया।

५४. आदिम स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त पृ० ६२।

५५. बृहदारण्यक के ६-४-१९ मन्त्र 'दुहिता मे पण्डिता जायेत' पर भाष्य।

५६. आर्य विद्वान् प्रोफेसर महेश प्रसाद की पुत्री कल्याणी ने ने हिन्दु विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम वेद पढ़ा।

५७. स० प्र० समु० ४।

५८. आदिम स० प्र० के सिद्धान्त। पृ० ६४-६५।

गौरी' आदि का कड़ा खण्डन करते हुए 'विवाह यौवन में तथा एक समय में एक ही' का विधान किया और बहुविवाह तथा बालविवाह का निषेध६०। विवाह में जन्मगत जाति-पांति एवं देश-विदेश का विचार छोड़कर गुण-कर्म-स्वभावानुसारी वर्णव्यवस्था का प्रबल समर्थन किया६१। पैर की जूती नारी को पूज्या मातृशक्ति का उच्चस्थान दिलवाया६२। स्त्री के लिये पातिव्रत्य की अनिवार्यता के समान पुरुष के लिये भी एक पत्नीव्रत के प्रबल पोषक महर्षि ने पूर्व ही कई विवाह कर चुकने वाले उदयपुर नरेश आदि को सब पत्नियों से एक समान प्रेम व्यवहार का आदेश दिया। ६३। स० प्र० (प्रथम संस्करण) में उन्होंने मनुस्मृति के प्रमाण ६४ पूर्वक कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध-विच्छेद का भी विधान किया। महर्षि ने नियोग के रूप में विवाहविच्छेद का एक सुन्दर विकल्प भी प्रस्तुत किया। दम्पती में से किसी भी एक के सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर समाज की अज्ञानुसार वह किसी दूसरे व्यक्ति से सन्तानोत्पत्ति कर वंश परम्परा भी चला सकता है और दूसरे साथी की जीवन यात्रा में सर्वतोभावेन सहायता भी कर सकता है।

राजनीतिक देन

महर्षि की राजनीतिक देन हमारे देश का कायाकल्प कर सकती है। साम्यवाद ने केवल अन्धे बल प्रयोग को ही सब कुछ माना तो गान्धीवाद ने थोथे आदर्शों के वशीभूत हो क्षात्र-शक्ति को सर्वथा तिरस्कृत कर अत्याचारियों को प्रोत्साहन दिया, पर महर्षि ने ब्रह्म एवं क्षात्र शक्तियों के समन्वय, साम, दाम, दण्ड, भेद इन नीति के चारों अंगों और विजयप्राप्ति के लिये युद्धस्थल से भाग जाने को भी आवश्यक बतलाया। महर्षि ने प्रजातन्त्र प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ माना पर उसमें राजा के हर पाँच वर्ष पश्चात् नहीं, अपितु कोई दोष न होने पर वंशपरम्परा से भी चलते रहने का विधान किया। इसे बृटिश शासनप्रणाली के कुछ निकट समझा जा सकता है। उनके अनुसार राजा तथा आप्त विद्वानों की सभा को अन्योऽन्याश्रित होना चाहिये और मूर्खों की अपेक्षा आप्त पुरुषों का मत ही मान्य होना चाहिये। राज्य के सुचारु संचालन के लिये धर्मार्यसभा, तथा राजार्य सभा होनी चाहिये। उच्चपदस्थ व्यक्तियों को निम्न पदस्थों की अपेक्षा और ज्ञानियों को मूर्खों की अपेक्षा, अपराध का उत्तरोत्तर अधिक दण्ड मिलना चाहिये—महर्षि की यह व्यवस्था आज शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को जड़मूल से उखाड़ सकती है। महर्षि पंचायतशासन के आधार पर एकात्मक राज्य-प्रणाली के पोषक हैं, विघटनात्मक वर्तमान संघात्मक प्रणाली के नहीं ६५। उनकी दण्डव्यवस्था कठोर है जिससे अपराधी भयभीत हों। महर्षि आग्नेयास्त्र तथा शतघ्नी (तोप) आदि शक्तिशाली शस्त्रों से सज्जित सेना को राष्ट्र रक्षा का आवश्यक साधन मानते हैं। वह एक के पश्चात् दूसरी अदालत में अपील करने वाली बड़ी व्ययसाध्य तथा दोषपूर्ण वर्तमान न्यायप्रणाली की कटु आलोचना करते हुए असावधान न्यायाधीशों ६६ तथा झूठे साक्षियों के लिये दण्ड विधान करते हैं और पुलिस की अपेक्षा प्राचीन चौकीदारी व्यवस्था को श्रेष्ठ कहते हैं। जिसमें किसी से अन्याय नहीं होता था।

आर्थिक देन

महर्षि ने कृषकों को "सब राजाओं का राजा" कहते हुए विधान किया कि उन पर कर इतना न लगे कि वे आर्थिक

५९-६०. स० प्र० समु० ४।

६१. आदिम स० प्र० और आर० स० के सिद्धान्त पृष्ठ ८३।

६२. शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः। वेद।

६३. महर्षि के पत्र और विज्ञापन।

६४. देखो मनु अ० ९।७२।

६५. स्व० मेहरचन्द महाजन आदि सभी आर्य नेता संघात्मक प्रणाली के विरोधी रहे।

६६. आदिम स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त पृ० ९०-९१।

संकट में पड़ जायें। उन्होंने स० प्र० के प्रथम सं० में जंगल से लकड़ी, घास आदि कटाकर गुजारा करने वालों तथा नमक पर, कर को अनुचित ठहराया। उन्होंने अधिकाधिक धनी होकर परोपकारार्थ दान का उपदेश दिया, बशर्ते कि कमाई का साधन पवित्र एवं न्याय्य हो। सेवा निवृत्त कर्मचारियों की मृत्यु पर उनकी अल्पव्यापक सन्तानों को वयस्क होने तक राज्य से सहायता का अधिकारी माना, यदि उनका आचरण ठीक रहे। पूंजी एवं श्रम में उन्हें विरोध नहीं, अपितु सहयोग अपेक्षित है। वह गौ के दूध में बछड़े के भाग की भी सीमा निर्धारित करते हैं ६७। फिर श्रमिक के अधिकार को उपेक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वह स्वदेशी वस्तुओं के अधिकतम प्रयोग तथा विदेशों के ६८ साथ व्यापार को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार मानते हैं। गोपालन और कृषि की उन्नति के लिये उन्होंने गोशाला तथा गोकृष्यादि-रक्षिणी सभा की स्थापना की। गोकरुणानिधि में आंकड़े देकर गौ रक्षा के लाभ दर्शाए। इस प्रकार कृषि, गोपालन, शिल्पविद्या, स्वदेशी-प्रयोग, दूसरे देशों से व्यापार और उचित कराधान यह उनकी अर्थव्यवस्था के मूलाधार हैं। जिन की अव्यवस्था से आज राष्ट्र में अर्थ संकट है।

वैज्ञानिक देन

महर्षि ने १८७५ में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वेद प्रमाणों से विमानों तथा वेतार के तार आदि का उल्लेख किया, जिससे प्रोत्साहित हो महर्षि के ही शिष्य बम्बई के श्री बापू शिवकरजी तल्पदे ने १९०४ में तथाकथित सर्वप्रथम उड़ान भरनेवाले राईट-बन्धुओं से पहले ही महाराजा गायकवाड़ की अध्यक्षता में बम्बई में अपने विमान की उड़ान का प्रदर्शन ६९ किया। उनके पीछे पी० सी० रे आदि अनेक विद्वानों ने प्राचीन भारतीय विविध विज्ञानों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। जब विज्ञान भी पृथिवी की आयु थोड़ी सी मानता था, महर्षि ने सृष्टि की आयु लगभग दो अरब वर्ष बतलाई, जो आज अनेक वैज्ञानिकों को मान्य है। ७० आज भारद्वाज का 'यन्त्र सर्वस्व' तथा भोजकृत 'समरांगण सूत्रधार' आदि ग्रन्थ महर्षि की स्थापनाओं के समर्थक हैं।

राष्ट्रीय देन

महर्षि दयानन्द राष्ट्रीयता के अग्रदूत थे। उन्होंने भारतीय स्वाधीनता की नींव रखी ४६। एच कैम्बेल बेनरमैन से बहुत पूर्व उन्होंने स्वराज्य को सुराज्य से श्रेष्ठ घोषित किया। १८८६ में दादाभाईनौरोजी आर्य समाज लन्दन में जाते थे,७१ अतः सम्भव है, उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द सत्यार्थप्रकाश से ही लिया हो। इङ्गलेण्ड में ऋषिशिष्य श्यामजी कृष्णवर्मा ने भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन की नींव डाली और पूना के श्रीरानाडे की शिष्य परम्परा में गोखले और गान्धीजी हुए। कांग्रेस द्वारा नियुक्त मोतीलाल नेहरू तथा मौलाना हसरत ७२ मुहानी की रिपोर्ट के अनुसार सत्याग्रह में जेल जाने वाले ७० से ९० प्रतिशत लोग आर्य समाजी थे।

विपिनचन्द्र पाल के अनुसार राजनारायण बोस ने १८६१ में सर्वप्रथम स्वदेशी आन्दोलन चलाया था। जो शीघ्र समाप्त हो गया। पर महर्षि का आन्दोलन समस्त देशव्यापी हुआ। ७३। महर्षि ने कलकत्ता में श्री महेन्द्र लाल सरकार से आयुर्वेद प्रणाली की उन्नति पर बातचीत की तथा उदयपुर नरेश को इसे उन्नत करने की एक विधिवत् योजना बनाकर

---

६७ आदिम स० प्र० और आ० स० के सिद्धान्त पृ० ८३।

६८ स० प्र० समु० ८।

६९ परोपकारी मासिक मार्च ६७ में पृष्ठ ४६ कालम २ पर प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा का पत्र।

७० 'लिमिटेशन्ज़ आफ साइन्स' ग्रन्थ।

७१ आ० स० का इतिहास-इन्द्र विद्यावाचस्पति भाग २।

७२ सत्य निर्णय—ज्ञानचन्द्र कृत परिशिष्ट।

७३ बिगिनिङ्ग्ज़ ऑफ फ्रीडम् मूवमेन्ट इन माडर्न इण्डिया विपिनचन्द्र पाल पृष्ठ ४७।

दी। अपने शिष्य श्यामजी वर्मा को ब्यावर की सर्वप्रथम स्वदेशी-वस्त्र मिल का प्रबन्धक होने की अनुमति दी। इस प्रकार उन्होंने हर क्षेत्र में स्वदेशी का प्रचलन किया, और विदेशी समर्थक ब्राह्म समाजियों की आलोचना की। हिन्दी को सरकारी कार्यालयों की भाषा बनवाने के लिये उन्होंने सर्व-प्रथम आन्दोलन किया और राजस्थान के अपने शिष्य राजाओं की राजसभा में उसे प्रचलित करवाया।७४। महर्षि ने मेला चान्दापुर तथा दिल्ली दरबार में प्रमुख धर्माचार्यों को एकत्रित करके सर्वप्रथम सर्वधर्म सम्मेलन तथा भावात्मक एकता सम्मेलनों का आयोजन किया। सर सैयद अहमद खाँ के घर श्यामजी आदि शिष्यों को भोजन के लिये भेजने तक से भी वह न हिचकिचाये। राज धर्म ईसाइयत का प्रबल खंडन तथा वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का मण्डन कर भारतीयों में आत्म-गौरव बढ़ाया। यदि उनके पदचिन्हों पर भारत सरकार चलती तो ईसाई प्रचारकों के कारण उत्पन्न नागालैण्ड की समस्या आज न होती।

७४ दयानन्द की मेमोरेशनवोल्यूम पृष्ठ ३६९।

सार रूप में हम कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द की एक ही देन थी 'सत्य एवं विद्या के सब अंगों का पूर्ण समन्वय'। उन्होंने विश्व को अतिवाद के रोग से बचा कर समन्वित, मध्यमार्ग अपनाने का जीवनदायी उपदेश दिया। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में नास्तिकता का बहुदेवतावाद के अतिवादों का एकेश्वरवादी समन्वय; सांसारिक जीवन में त्याग और भोग का समन्वय; राजनीति में साम-दण्ड का समन्वय, ईश्वर के सगुण-निर्गुण, ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि नामों तथा दयालु-न्यायकारी होनेका समन्वय, ज्ञान-कर्म-उपासना का समन्वय, धर्म विज्ञान का सम-न्वय, राष्ट्रीयता-अन्तर्राष्ट्रीयता में समन्वय, शारीरिक-आत्मिक-सामाजिक उन्नति में समन्वय, देशी-विदेशी-भाषाज्ञान समन्वय भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा में समन्वय, उत्तर-दक्षिण भारतीयों का समन्वय, श्रद्धा-तर्क में समन्वय, हिन्दू-मुस्लिम-ईसाइयों में समन्वय, धर्म राजनीति में समन्वय, लोक-परलोक में समन्वय—अभिप्राय यह कि जीवन के सभी अंगों में पूर्ण समन्वय प्रचारित किया, जहाँ एकांगीपन नहीं, सम्पूर्णता है और जो पारस्परिक विवाद के मूलकारण सभी एकांगी दृष्टि-कोणों के विवाद को शान्त कर सकता है।

महर्षि दयानन्द की देन

५

डा० भवानीलाल भारतीय, एम. ए., पी. एच. डी.
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट कालेज, पाली (राज)

महर्षि के आविर्भाव की पृष्ठभूमि : तत्कालीन परिस्थितियाँ

भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महान् ज्योतिवाहक स्वामी दयानन्द जिस समय सौराष्ट्र की पुण्य भूमि पर अवतीर्ण हुए, उस समय तक भारत में ब्रिटिश शासन सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था। अंग्रेज जाति के सम्पर्क ने भारतवासियों में हीन भावनायें जागृत कीं। पाश्चात्य सम्पर्क ने भारतियों को दिग्मूढ़ सा बना दिया और पश्चिमी देशों की लौकिक समृद्धि को देखकर वे अपने को नितान्त दीन, हीन तथा अपदार्थ समझने लगे। मैकाले द्वारा निर्धारित अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली ने देशवासियों के स्वात्म बोध को और भी नष्ट कर दिया। जिस शिक्षा का लक्ष्य ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो रंग और आकृति में चाहे भारतीय हो, परन्तु आचार और विचार, बुद्धि और भावना से अंग्रेज हो, उससे अधिक आशा करना व्यर्थ ही था।

शासन के अतिरिक्त हिन्दू समाज के गौरव और वर्चस्व को नष्ट करने में दो अन्य शक्तियाँ भी लगी हुई थीं। शताब्दियों तक के मुस्लिम शासन ने भारतवासी मुसलमानों के हृदय में यह बात दृढ़ता पूर्वक जमा दी थी कि वे शासक वर्ग के हैं और प्रकृति ने उन्हें हिन्दुओं पर शासन करने के लिये ही उत्पन्न किया है। अब तक तो वे औरंगजेबी शासन काल की भाँति तलवार के बल पर हिन्दू धर्म को समाप्त करने की चेष्टा में रहे थे, परन्तु अब अंग्रेजी शासन की धर्म निरपेक्षता की तथा कथित नीति के सम्मुख उन्हें अपनी पद्धति को परिवर्तित करना पड़ा। अब इस्लाम के मुल्ला और मौलवी, फकीर और प्रचारक हिन्दू धर्म की संकीर्णता एवं क्षुद्रता, उसमें व्याप्त मूढ़ विश्वासों और कदाचारों का खुले आम उपहास करने लगे तथा वाणी और लेखनी से हिन्दू धर्म की कटुतम आलोचना उनके लिये सामान्य वस्तु बन गई।

अंग्रेजी शासन में ईसाई प्रचारकों को भी हिन्दू धर्म और संस्कृति पर ध्वन्सात्मक आक्रमण करने की छूट मिल

गई। ईसाइयत का यह चक्र इस्लाम से भी अधिक घातक सिद्ध हुआ। ईसाई प्रचार के दो रूप थे—एक प्रणाली थी ईसाई प्रचारकों द्वारा जन-जन में ईसाई विश्वासों के प्रति श्रद्धा जागृत करने के लिये नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में ईसाई मिशनों का व्यवस्थित जाल बिछाना। ईसाई धर्म ग्रंथों का वितरण, लोक भाषा में हिन्दू धर्म की आलोचना के व्याख्यान देना, यत्र-तत्र हिन्दु देवी देवताओं का उपहास करना, इस कार्य प्रणाली के आवश्यक अंग थे। परन्तु ईसाई कार्य प्रणाली का एक दूसरा रूप भी था। मैक्समूलर, मोनियर-विलियम्स, ग्रिफिथ तथा विल्सन आदि पाश्चात्य पण्डितों का संस्कृत विषयक अनुसंधान तथा अध्ययन भी ईसाई मत के पूर्वाग्रह से दूषित था। ये पाश्चात्य मनीषी विशुद्ध सारस्वत साधना की दृष्टि से वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त नहीं हुये थे। इनका लक्ष्य द्विविध था—भारत में शासक बनकर आने वाले अंग्रेज आई. सी. एस. अधिकारियों को भारत में सर्वाधिक व्याप्त हिन्दू धर्म से परिचित कराना तथा हिन्दू धर्म शास्त्र एवं भारतीय नीति रीति को ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य जीवन प्रणाली से हीन तर, कुत्सित, मिथ्या एवं निकृष्ट सिद्ध करना।

ईसाइ प्रचार का अन्तिम परिणाम निकला 'अत्यधिक भावुक प्रकृति के बंगाली युवक ईसाई मृग तृष्णा की ओर आकृष्ट हुए' माइकेल मधुसूदन दत्त, पादरी लाल बिहारी दे, इण्डियन नेशनल कांग्रेस के प्रथम सभापति व्योमेशचन्द्र बनर्जी जैसे प्रबुद्ध लोग भी अपने परम्परागत धर्म को त्याग कर 'गॉस्पेल' के अनुयायी बन गये। दक्षिण में नीलकण्ठ शास्त्री और महाराष्ट्र की विदुषी पण्डिता रामा बाई भी इसाइयत के आकर्षण से अपने को मुक्त नहीं रख सके। ईसाई प्रचार के इस आक्रान्त रूप ने सामान्य लोगों को तो प्रभावित किया ही—केशवचन्द्र सेन, रामतनु लाहिरी, तथा प्रतापचन्द्र मजूमदार जैसे ब्रह्म नेता भी उससे अप्रभावित नहीं रह सके।

धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में जब ऐसी संक्रान्तिकालीन अवस्था उत्पन्न हो चुकी थी, उस समय आर्य सभ्यता और वैदिक धर्म के मूलभूत संस्कारों की सुरक्षा हेतु महर्षि दयानन्द का आविर्भाव हुआ। महर्षि एक ऐसे ज्योतिर्धर थे, जिन्होंने अपने क्रान्तिदर्शी, ओजस्वी तथा वर्चस्वी व्यक्तित्व से धर्म समाज, राष्ट्र, शिक्षा तथा अर्थनीति जीवन के विविध क्षेत्रों को प्रभावित कर देश के मुमुर्षु जर्जर और कंकाल शेष शरीर में नवीन प्राणों का संचार किया। महर्षि दयानन्द की देन का विवेचन इसी परिपेक्ष्य में किया जाना चाहिए।

धर्म के क्षेत्र में महर्षि दयानन्द की देन

दयानन्द मूलतः एक धार्मिक नेता थे। धर्म के विस्मृत स्वरूप की उन्होंने पुनः स्थापना की। उन्होंने बताया कि धर्म का अभिप्राय केवल रूढ़िगत विचारों का अनुसरण करते हुये कर्मकाण्ड के जटिल क्रिया जाल का पतन ही नहीं है, अपितु धर्म उन उदात्त गुणों की समष्टि का नाम है जो मनुष्य के नैतिक औ आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होते हैं। दयानन्द ने वेद को धर्म का मूलाधार बताया। उनकी यह मान्यता भारतीय धर्म चिन्तन के पूर्णतया अनुकूल थी। वैदिक धर्म का मूल स्रोत ऋग्वेदादि में चार मन्त्र संहितायें हैं जो ईश्वर का अनादि ज्ञान होने के कारण पूर्णतया निर्भ्रान्त तथा स्वतः प्रमाण हैं, यह उनकी निश्चित धारणा थी। महर्षि ने संहिता प्रमाणवाद को पुनः प्रतिष्ठित किया। यों तो वेद प्रमाणवाद सभी प्राचीन और अर्वाचीन धर्माचार्यों को स्वीकार्य रहा है, परन्तु व्यावहारिक रूप में वेद विरुद्ध मतवादों का प्रचलन ही अधिक रहा। स्वामीजी ने धर्म सम्बन्धी प्रत्येक मान्यता और विश्वास को वेद प्रमाण के कसौटी पर कसने का आग्रह किया।

वेद प्रामाण्य के साथ-साथ दयानन्द ने आर्य ग्रन्थ प्रमाण के सिद्धान्त को भी पुनरुज्जीवित किया। इसके लिये उन्हें अपने विद्या-गुरु सुगृहीत नामधेय दण्डी विरजानन्द सरस्वती से प्रेरणा मिली। दण्डीजी ने अपनी आर्य-प्रज्ञा के बल पर यह सिद्ध किया कि वेद के पश्चात् उन्हीं ग्रन्थों को प्रामाणिक माना जाना चाहिये जो साक्षात्कृत धर्मा मन्त्रद्रष्टा कवियों

द्वारा निर्मित हैं तथा जो युक्ति, तर्क, विज्ञान तथा सृष्टिकर्म के सर्वदा अविरुद्ध हैं। आर्य-ग्रन्थ प्रमाण की इस कसौटी के द्वारा ही दयानन्द तन्त्र, पुराण तथा शतशः उन अन्य ग्रन्थों का खण्डन कर सके जिन्होंने अपने वेद, युक्ति और विज्ञान विरुद्ध सिद्धान्तों से जन मानस को दूषित कर रक्खा था। दयानन्द के हाथ में आर्य ग्रन्थ-प्रमाणवाद का यह आयुध नहीं होता तो वे मध्ययुगीन धर्माडम्बर को भिन्न-भिन्न कर वैदिक धर्म को पुनः उद्भासित करने में असफल रहे होते।

धर्म में बहुविवाद को समाविष्ट करना महर्षि की एक महान् देन है। वस्तुतः धर्म बहुविवाद का विरोधी नहीं है। भगवान् मनु ने तर्क के अनुकूल ही धर्म का अनुसन्धान करने का आदेश दिया है।१ निरुक्तकार यास्क के अनुसार तर्क ही ऋषि है२ और महर्षि कणाद ने वेदों को बुद्धिपूर्वक रचित ईश्वरीय कृति माना है।३ यदि धर्म में युक्तिवाद (Rationality) का समावेश नहीं है, तो वह मिथ्या विश्वासों का समूह मात्र है। तर्क और युक्ति का महत्व धर्म के क्षेत्र से लुप्त हो गया। उसका स्थान श्रद्धा और विश्वास अन्ध विश्वास में ले लिया। कालान्तर में यह श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा रह गई और यह विश्वास अन्ध-विश्वास में परिणत हो गया। दयानन्द ने बलपूर्वक घोषणा की, कि वास्तविक धर्म वही है जो तर्क के प्रहारों को सहन कर सके तथा युक्ति की आधार-शिला पर खड़ा हो। उन्होंने सत्य और असत्य की परीक्षा के लिये पांच कसौटियाँ निर्धारित कीं उनमें जहाँ वेद, आप्त वाक्य तथा आत्मा के अनुकूल तथा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से सिद्ध होने वाला भी स्वीकार किया। दयानन्द का यह प्रखर बुद्धिवाद धर्म के क्षेत्र में ऋषि की देन है।

१. यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मवेद नेतरः। मनु० १२।१०६।

२. "मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यति? तेभ्यएतं तर्कमृषि प्रायच्छन्मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्।" निरुक्त परिशिष्ट।

३. बुद्धि पूर्वावाक्य कृतिर्वेदे। वैशेषिक दर्शन ६।१।१।

समाज सुधार के क्षेत्र में ऋषि की देन —

महर्षि दयानन्द का व्यक्तित्व बहुमुखी था। धर्म, समाज, राष्ट्र, संस्कृति—प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अपनी क्रान्तदर्शी प्रतिभा का परिचय दिया है। धर्म के साथ-साथ भारतीय समाज में व्यापक और क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की उनकी प्रबल इच्छा थी। अतः दयानन्द को समाज संशोधकों की पंक्ति में शीर्ष स्थान प्रदान करने में हमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। गत ८० वर्षों के भारत के सामाजिक जीवन में जो कुछ सुधार और परिष्कार हुये हैं, उनका श्रेय स्वामी दयानन्द को ही दिया जाना चाहिये। स्वामी दयानन्द प्रवर्तित सुधार आन्दोलन ने उत्तर भारत के जन-मानस को किस प्रकार प्रभावित किया है, इसका ठीक-ठीक अध्ययन तो कोई समाज शास्त्री ही कर सकता है। स्वामीजी ने सर्वप्रथम बाल-विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध-विवाह तथा बहुविवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्हीं से प्रेरणा पाकर स्व० दीवान बहादुर हरविलास शारदा ने तत्कालीन केन्द्रीय धारा सभा में बाल-विवाह निरोधक कानून पेश किया जो शारदा एक्ट के नाम से पारित हुआ।

हिन्दू-समाज के जीर्ण-शीर्ण ढाँचे को पुनर्गठित करने के लिये महर्षि ने वर्णाश्रम व्यवस्था को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर उसे युगानुकूल सिद्ध किया। यद्यपि हिन्दू-समाज विगत सहस्राब्दियों से मिथ्या जात-पांत के जिस वात्याचक्र में फँस गया था, उससे मुक्त होना सहज कार्य नहीं था, तथापि महर्षि ने शास्त्रीय आधार पर वर्णगत और जातिगत वैषम्य को दूर करने का प्रशंसनीय प्रयास किया। स्वामीजी के कठोर से कठोर आलोचकों को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू-समाज में व्याप्त स्पृश्यास्पृश्य के अभिशाप को दूर करने तथा तथाकथित दलितवर्ग के लोगों को अन्य उच्चवर्णस्थ लोगों के स्तर पर लाने में स्वामीजी का प्रशस्तिपूर्ण योगदान रहा है। स्वयं महात्मा गान्धी ने ऋषि दयानन्द की निर्वाण अर्द्ध-

शताब्दी के उत्सव पर वरवदा कारागार से प्रेषित अपने पत्र में इस तथ्य को इस प्रकार स्वीकार किया है—

"Among the many rich legacies that Swami Dayanand has left to us, his unequivocal pronouncement against untouchability is undoubtedly one."१

नारी-शिक्षण और नारी जागरण के कार्य में भी महर्षि अग्रदूत रहे। मध्यकालीन धर्माचार्यों ने नारी को अत्यन्त उपेक्षित, घृणित तथा तिरस्करणीय बना रक्खा था। यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच को मिथ्या मानने वाले तथा जीव-ब्रह्मैक्य का तारस्वर से उद्घोष करने वाले शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि वेदान्ताचार्यों ने भी नारी को नरक का द्वार और विश्वास के अयोग्य२ ही माना। उसी नारी को 'शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा' और 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' जैसे वेद मन्त्रों के आधार पर उसके उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करना महर्षि का ही कार्य था। दयानन्द के नारी जागरण विषयक महत् कार्य के प्रति अपनी विनम्र और भक्तिपूत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुये सुप्रसिद्ध फ्रैन्च विद्वान् रोमां रोलां ने ठीक ही लिखा है :—

"Dayanand was no less generous and bold in his crusade to improve the condition of women, a deplorable in India He revolted against the abuses from which they suffered."३

१—Dayanand Commemoration Volume.

२—शंकराचार्यकृत प्रश्नोत्तरी।

३—The Life of Shri Ramakrishna. P. 156.

राष्ट्रवादी दयानन्द

महर्षि दयानन्द अपने समकालीन तथा समानधर्मी अन्य धर्माचार्यों से अनेक बातों में पूर्णतया भिन्न थे। उच्च कोटि के संस्कृतज्ञ विद्वान्, महान् धर्मसंशोधक तथा क्रान्तिकारी समाज सुधारक होने के साथ-साथ उनमें अपने राष्ट्र के प्रति अगाध निष्ठा तथा भक्ति थी। दयानन्द मूलतः राष्ट्रवादी थे, परन्तु राष्ट्रवाद को उन्होंने संकुचित अर्थ में ग्रहण नहीं किया था उनके राष्ट्रीय विचारों का उल्लेख करते हुये योगी अरविन्द ने लिखा है—

He had the national stinct and he was able to make it luminious."१

अर्थात् दयानन्द में राष्ट्रीय भाव था और वह उसे उद्दीप्त कर सका था। रोमां रोलां ने स्वामीजी को भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण का पुरोधा बताते हुये उसे राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक माना है। होम रूल आन्दोलन की प्रसिद्ध नेत्री श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि ऋषि दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने—"India for Indians"—"भारत भारतवासियों के लिये" की घोषणा की।

महर्षि ने अपने लेख और वाणी में सर्वत्र स्वराज्य और साम्राज्य की चर्चा की है। वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय तथा गोकरुणानिधि के शतशः उद्धरण इस बात के द्योतक हैं कि ऋषि दयानन्द भारत की राजनैतिक परतन्त्रता से अत्यन्त दुखी थे, तथा उनकी एकान्त कामना थी कि भारत विदेशियों के दासता पाश से मुक्त होकर स्वराज्य का गौरव प्राप्त करे।

यहाँ एक बात पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा, क्या दयानन्द की राष्ट्रीयता पश्चिम की देन है? बहुधा यह समझा जाता कि भारत में स्वतन्त्रता के भावों का बीज वपन पाश्चात्यों के सम्पर्क से हुआ। परन्तु दयानन्द की राष्ट्रीय

१—Dayanand : The man and his work.

विचारधारा के लिये यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः उन्होंने अपनी अन्तःप्रज्ञा के बल पर ही भारत की राजनैतिक मुक्ति का चिन्तन किया तथा अपनी राष्ट्रीय भावना को प्राचीन आर्य वाङ्मय में विद्यमान तत्वों से पोषित तथा पल्लवित किया। इस दृष्टि से दयानन्द अपने समकालीन तथा परवर्ती सभी स्वाधीनचेता महापुरुषों को पीछे छोड़ते प्रतीत होते हैं। राष्ट्र पुरुष महात्मा गांधी ने जहाँ अपने सर्वोदय के विचारों के लिये जॉन रस्किन और लियो तालस्ताय जैसे पश्चिमी विचारकों से प्रेरणा ग्रहण की; वहाँ दयानन्द के प्रेरणा-स्रोत वेद के वे महनीय सूक्त हैं, जिनमें स्वराज्य की अर्चना1 और मातृभूमि की वन्दना2 की शतशः ऋचायें भरी पड़ी हैं।

दयानन्द का राष्ट्रवाद उस फासिस्ट 'राष्ट्रवादी समाजवाद का पर्याय या स्थानापन्न नहीं है जो My country—(National Socialism) में विश्वास रखता है। इसके विपरीत दयानन्द का 'Right or Wrong' राष्ट्रवाद उस चक्रवर्ती आर्य साम्राज्य के आदर्श को मूर्तिमान करने का एक सोपान मात्र है जिसके लिये ऐतरेय ब्राह्मणकार ने लिखा है—"स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुषान्तदापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति।'3 चक्रवर्ती आर्य नरेश समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर एकराट् साम्राज्य की स्थापना करे, यही दयानन्द का आदर्श था। उसमें न तो एकतन्त्री शासन की स्वेच्छाचारिता के लिये अवकाश था और न आधुनिक प्रजातन्त्र प्रणाली का मूढ़ जन विश्वास। सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में मनुस्मृति आदि विधि ग्रन्थों के आधार पर महर्षि ने राजनीति के ऐसे ही स्वर्णिम सूत्रों को ग्रथित किया है। दयानन्द के राष्ट्रवाद से प्रेरणा पाकर उनके अनुयायी आर्यसमाजियों ने स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में जो स्वर्णिम पृष्ठ जोड़े हैं, उनका तो इतिहास ही पृथक है।

1—ऋग्वेद मं० 1 सूक्त 80।

2—अथर्ववेद का 12 सूक्त 1।

3—ऐतरेय ब्राह्मण, 39।1।

दयानन्द का शैक्षणिक क्षेत्र में योगदान

दयानन्द अपने युग के महान् शिक्षा शास्त्री थे। उनके द्वारा रचित सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय तथा तृतीय समुल्लास बालक-बालिकाओं के लालन-पालन, शिक्षण तथा उन्हें सुसंस्कृत बनाने की दृष्टि से लिखे गये हैं। संस्कृत शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहित करने के लिये उन्होंने अद्वितीय प्रयास किये। संस्कृत व्याकरण के सुगम बोध के लिये उन्होंने 'वेदाङ्ग प्रकाश' के नाम से चौदह खण्डों में एक ग्रन्थमाला तैयार की। 'व्यवहार भानु' तथा 'संस्कृत वाक्य प्रबोधः' नामक उनके दो लघु ग्रन्थ पठन-पाठन व्यवस्था के अन्तर्गत छपे। अष्टाध्यायी का भाष्य भी उन्होंने लिखा। ग्रन्थ निर्माण के अतिरिक्त अपने देशाटन प्रसङ्ग में वे जहां भी गये, उन्होंने संस्कृत पाठशालायें स्थापित कीं। संस्कृत के वैदिक और लौकिक साहित्य का विधिवत् अध्ययन करने के लिए उन्होंने एक पाठ विधि का भी निर्माण किया जिसका उल्लेख सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और संस्कार विधि के वेदारम्भ संस्कार के अन्तर्गत हुआ है। स्वामी दयानन्द के शिक्षा विषयक मन्तव्यों से ही प्रेरणा पाकर कालान्तर में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का उद्धार किया गया। गुरुकुलों की स्थापना द्वारा भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्धारण में अभूतपूर्व सहायता मिली है।

स्वामी दयानन्द की संस्कृत और आर्य भाषा (हिन्दी) को देन

शिक्षा का प्रश्न भाषा के प्रश्न से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। दयानन्द ने संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ बहुविध प्रयत्न किये। उन्होंने संस्कृत को भाषण, प्रवचन, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, पत्र-व्यवहार और ग्रन्थ लेखन के जीवन्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया। अपने भक्त और शिष्य राजा

महाराजाओं को संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा दी, संस्कृत शास्त्रों के प्रचार, प्रसार और रक्षण हेतु वैदिक यन्त्रालय की स्थापना की तथा आर्यसमाज के समासदों के लिये संस्कृत भाषा के ज्ञान को वांछनीय बताया।

संस्कृत के साथ-साथ महर्षि लोक भाषा हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिये भी उत्सुक थे। उनकी यह मान्यता थी कि आर्य भाषा हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के गौरवास्पद स्थान की अधिकारिणी है। अतः उन्होंने स्वयं गुर्जरभाषी होने तथा गीर्वाण वाणी संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् होते हुए भी अपने लेख और वाणी में आर्य भाषा का ही प्रयोग किया। ब्राह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन को उन्होंने उस समय मीठी फटकार बताई जिस समय केशव ने स्वामी जी के अंग्रेजी से अनभिज्ञ होने के कारण खेद व्यक्त किया था। महर्षि दयानन्द की हिन्दी भाषा के प्रति देन का उल्लेख करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० प्रो० रामदास गौड़ तथा प्रसिद्ध समालोचक लाला भगवानदीन ने लिखा—"जनता के लाभ की दृष्टि से मातृभाषा गुजराती होने पर भी इस दूरदर्शी और विद्वान् संन्यासी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार किया। अपने ग्रन्थ भी हिन्दी में ही लिखे। हिन्दी की उन्नति और प्रचार आर्य समाज का, जिसके प्रवर्त्तक थे, एक विशेष लक्ष्य बनाया। अकेले इन स्वामी जी ने हिन्दी का जितना उपकार किया, हमारा अनुमान है कि अनेक सुसंगठित संस्थाओं ने भी अबतक मिलकर इतना नहीं कर पाया है।"[1] पंजाब जैसे अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त में हिन्दी का जो अभूतपूर्व प्रचार सम्भव हो सका, उसका एकमात्र कारण महर्षि और आर्यसमाज की हिन्दी विषक नीति ही है।

भारतीय अर्थनीति और गो रक्षा

धर्म, अध्यात्म और संस्कृति के उच्चस्तरीय क्षेत्रों में युगान्तरकारी योगदान करनेवाले महर्षि की दृष्टि देश की दयनीय अर्थ व्यवस्था की ओर भी आकृष्ट हुई थी। उनका यह सुनिश्चित मत था कि स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग से ही देश की अर्थ व्यवस्था को सुधारा जा सकता है। वे देश की औद्योगिक स्थिति में भी आमूल चूल परिवर्तन करना चाहते थे। उनकी यह सुदृढ़ धारणा थी कि जब तक देश के नवयुवकों को उद्योग, कला-कौशल तथा यान्त्रिक व्यवसायों की शिक्षा नहीं दी जायगी, तब तक देश की आर्थिक समृद्धि का स्वप्न अपूर्ण ही रहेगा। इसी दृष्टि से उन्होंने कुछ युवकों को जर्मनी भेजा, ताकि वहां रह कर वे औद्योगिक और तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर सकें।

दयानन्द की अर्थ नीति में गो रक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान था। गो रक्षा के प्रश्न को वे देश की आर्थिक समृद्धि से जोड़ते थे। 'गो करुणा निधि' पुस्तक लिख कर इसी आर्थिक पहलू को उन्होंने स्पष्ट किया है। गाय, भैंस और बकरी जैसे दुधारू पशुओं के विकाश से हमारे देश के पशु धन का जिस तीव्र गति से ह्रास हो रहा है, इसे उन्होंने अनुभव किया था। गो रक्षा के लिये उनके प्रयत्न सर्वविदित हैं। तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की सेवा में गोवध बन्द कराते हेतु एक प्रार्थना पत्र प्रेषित करने का उन्होंने महत् उद्योग किया था। 'गो करुणा निधि' के परिशिष्ट रूप में 'गो कृष्यादि रक्षिणी सभा' की योजना और विधान प्रस्तुत कर स्वामी दयानन्द ने कृषि को भारतीय अर्थ व्यवस्था के प्रमुख आधार के रूप में प्रस्तुत किया। कृषक वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति उनके इस कथन से प्रकट है जिसमें उन्हें 'राजा-महाराजाओं का अन्नदाता' कहा गया है। यदि देश के प्रशासक स्वामी जी द्वारा निर्दिष्ट अर्थ व्यवस्था पर ध्यान देकर उसका क्रियान्वयन करते तो हमारा देश आर्थिक दृष्टि से न केवल सम्पन्न ही होता, उसकी समृद्धि में भी वृद्धि होती।

दर्शन के क्षेत्र में दयानन्द की देन

अब तक हमने स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और उसकी देन का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया। महर्षि को

१ हिन्दी भाषा सार—पृ० ६२ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित)।

धर्म प्रचारक, समाज संशोधक तथा राष्ट्र निर्माता युग पुरुष के रूप में तो स्वीकार किया गया, परन्तु उनके दार्शनिक दृष्टिकोण पर बहुत कम ऊहापोह हुआ है। उनके ग्रन्थों का गम्भीर अनुशीलन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दयानन्द की देन दर्शन के क्षेत्र में भी कुछ कम नहीं है। दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त उनके ग्रन्थों में सर्वत्र मणि में सूत्रवत् विद्यमान हैं। दयानन्द ने अपने दार्शनिक मत को 'वैदिक त्रैतवाद' के नाम से अभिहित किया है जिसे उन्होंने ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं' इस मंत्र द्वारा पुष्ट किया। शाङ्कर अद्वैतवाद उन्हें अभीष्ट नहीं। 'वेदान्तिध्वान्त निवारण' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर स्वामीजी ने शाङ्कर मत का खण्डन किया और ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की तीन अनादि सत्ताओं का प्रतिपादन किया। दयानन्द ने अपने दार्शनिक मन्तव्य को शास्त्रीय प्रमाणों से पुष्ट किया है। वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' तथा 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' जैसे महावाक्यों की जीव ईश्वर भेदपरक व्याख्या पर जोर दिया।

महर्षि षडदर्शनों के समन्वयमूलक अध्ययन पर जोर देते हैं। दर्शनों के अध्ययन के क्षेत्र में उनकी यह देन अभूतपूर्व है। मध्यकालीन भाष्यकारों और दर्शन शास्त्रों के टीकाकारों ने दार्शनिक खण्डन मण्डन का विराट विभ्राट उपस्थित कर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी, जिसमें दर्शनों के पारस्परिक समन्वय का सूत्र ढूँढ़ना नितान्त कठिन हो गया था। यद्यपि स्वामी दयानन्द को षडदर्शनों का विस्तृत सामञ्जस्य परक भाष्य लिखने का अवसर नहीं मिला, तथापि वे अपने सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ में एक ऐसा सूत्र प्रस्तुत कर गये जिसके प्रकाश में षडदर्शनों की समन्वयमूलक व्याख्या हो सकती थी। इस प्रसंग में वे लिखते हैं "छः शास्त्रों में अविरोध इस प्रकार है। मीमांसा में ऐसा कोई कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय, वैशेषिक में 'समय लगे बिना बने ही नहीं', न्याय में उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता, योग में विद्या, ज्ञान विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता। सांख्य में तत्वों का ज्ञान नहीं होने से नहीं बन सकता और वेदान्त में बनाने वाला नहीं बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनी है। इन कारणों की व्याख्या एक एक की एक-एक में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ नहीं।"[1] आवश्यकता इस बात की है कि दर्शन के क्षेत्र में दयानन्द की महत्वपूर्ण देन का उसी प्रकार विशद विवेचन किया जाय, जिस प्रकार डा० राधाकृष्णन, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी आदि विद्वानों ने शाङ्कर वेदान्त का विश्लेषण किया है।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियों में महर्षि दयानन्द की देन का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया गया है। वस्तुतः स्वामी दयानन्द का मानव जाति पर जो उपकार है, उसका यथार्थ मूल्यांकन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वेदार्थ के विषय में जो उन्होंने देन दी, उसका प्रमाण इसी बात से दिया जा सकता है कि स्वामीजी के परवर्ती योगी अरविन्द, सत्यव्रत सामश्रमी, स्वामी भगवदाचार्य तथा महामहोपाध्याय मधुसूदन ओझा जैसे वेदज्ञ विद्वानों ने उनके वेद भाष्य से प्रेरणा प्राप्त की है। ये विद्वान भी वेदार्थ की उसी सरणि पर चले हैं जिसका संकेत स्वामी दयानन्द ने किया था। गोखले, तिलक रानाडे आदि देश भक्तों तथा समाज सुधारकों, गांधी, श्रद्धानन्द, लाजपतराय जैसे राष्ट्र नेताओं तथा भगत सिंह और रामप्रसाद 'बिस्मिल' जैसे क्रान्तिकारियों के प्रेरणा स्रोत भी दयानन्द ही थे।

शिक्षा के क्षेत्र में जिस गुरुकुल पद्धति का प्रतिपादन महर्षि ने किया, उसीका अनुकरण सनातनधर्मी लोगों ने ऋषिकुल खोलकर किया। उनके द्वारा प्रचारित स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार, राष्ट्र भाषा प्रचार एवं गोरक्षा आदि के आंदोलन कालान्तर में समस्त देशवासियों द्वारा निर्विरोध रूप में

१ सत्यार्थप्रकाश—अष्टम समुल्लास

स्वीकार कर लिये गये। यह दयानन्द की व्यापक देन का निश्चित प्रमाण है। कवि कुल गुरु रवीन्द्रनाथ ने उस महर्षि के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए लिखा—

"My neverence to the great teacher Dayanand, whose vision found unity and truth in India's spiritual history, whose mind luminiously comprehended all departments af India's life—whose call to India is the call of awakening to truth and purity from inertness of unreason and ignorance of the meaning of our past."

मेरा आदर हो उस महान गुरु दयानन्द के प्रति जिसने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में एकता और सत्य के दर्शन किये। जिसने भारतीय जीवन की विविधता को अपने मस्तिष्क से देखा, जिसका भारत के प्रति आह्वान सत्य और पवित्रता का आह्वान था क्योंकि इस समय तक भारतवासी मिथ्या विश्वासों की जड़ता तथा अपने गौरवपूर्ण अतीत के प्रति अज्ञान के जाल में फंस चुके थे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	लेखक
१ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय।
२ दयानन्द चरित	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय
३ आदर्श सुधारक दयानन्द	"
४ श्री मद्दयानन्द प्रकाश	सत्यानन्द सरस्वती
५ सत्यार्थ प्रकाश	दयानन्द सरस्वती
६ संस्कार विधि	"
७ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका	"
८ वेदभाष्य प्रणाली को दयानन्द सरस्वती के देन (शोध प्रबन्ध)	सु० कु० गुप्त
९ राष्ट्रवादी दयानन्द	सत्यदेव विद्यालंकार
१० ऋषि दयानन्द का राष्ट्रवाद	भवानीलाल भारतीय
११ ऋषि दयानन्द और राजा राममोहन राय	"
१२ ऋषि दयानन्द और अन्य भारतीय धर्माचार्य	"
१३ हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन—	डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त
१४ संस्कृत भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन	डा० भवानीलाल भारतीय
१५ दयानन्द दर्शन	चमूपति एम० ए०

अंग्रेजी ग्रंथ

१—Life of Dayanand Sarasvati By Harvilas Sarda

२ Luther of India By Dr. Sir Gokul Chand Narang.

३ Bankim, Tilak and Dayanand By Shri Arvinda

४ Dayanand, the man and his work By Shri Arvinda

५ Philosophy of Dayanand By Pt. Gangaprasad Upadhyaya

६ Swami Dayanand's contribution to Hindu Solidarity Upadhyaya

७ Swami Dayanand on the formation and function of the state Ganga Prasad Upadhyaya

८ Landmarks of Swami Dayanand's teachings Ganga Pd. Upadhyaya

९ A Critical study of the Philosophy of Dayanand By Dr. S. Prakash

१० The Torch Bearer By Sadhu T. L. Vaswami M. A.

११ Dayanand : A study in Hindusm By Principal Bahadurmal

१२ Dayanand commemoration Volume By Harvilas Sarda

१३ The Ten commandments of Dayanand By Pt. Chamupati

१४ Shankar and Dayanand By Harvilas Sarda

१५ Immortal Saying of Dayanand By Pt. Vishwanath Shastri

ओ३म्

महर्षि दयानन्द की देन

६

श्री सुमेधामित्र,

वेद महाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

१—अवतरण

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानंसृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

उपरोक्त उद्धरण का भाव यह है कि जब २ धर्मका ह्रास होने लगता है, अधर्म की वृद्धि होती है तब २ कोई न कोई महापुरुष धार्मिक सज्जन पुरुषों की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म की पुनः स्थापना के लिये इस पवित्र वसुन्धरा को अपने अवतरण द्वारा अलंकृत करते हैं। जिस समय महर्षि दयानन्द भारत के रंगमञ्च पर आये, उस समय इस देश की ऐसी ही दुरवस्था थी। धर्म का स्थान कुरीतियों ने ले लिया था। ऋषि परम्परा समाप्त हो चुकी थी। चारों ओर दम्भी और पाखण्डियों का बोलबाला था। वेद के स्थान में भ्रष्ट ग्रन्थों का सर्वत्र प्रचार जोरों पर था। वैदिक धर्म एक पुरानी जीर्ण शीर्ण खण्डहर में अपने अज्ञान उद्धारक की प्रतीक्षा में आँसू बहा रहा था। ऐसे ही समय में पश्चिमी भारत में एक महान तेज का प्रादुर्भाव हुआ। उस तेज ने जिस प्रकार मरीचिमाली सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से अन्धकार को नष्ट भ्रष्ट कर देता है, उसी प्रकार समस्त मतमतान्तर रूपी अज्ञानान्धकार को दूर करके सर्वत्र वेदज्ञान रूप अपने प्रचण्ड ज्योति से आलोक प्रदान किया।

२—देन

प्रत्येक महापुरुष संसार को कुछ न कुछ महत्वपूर्ण देन देता है। इस रूप में संसार उनका सदा ऋणी रहता है। जिस समय समाज को जिस तत्त्व की आवश्यकता होती है। महापुरुष उसीके अनुसार समाज में क्रान्ति लाता है। उस क्रान्ति सेसमाज का नये सिरे से पुनर्निर्माण होता है। उनके प्रत्येक क्रिया कलापों से संसार कुछ न कुछ ग्रहण करता ही रहता है। उनका जीवन लोकोत्तर होता है। जब सम्पूर्ण जगत् निद्रा से अभिभूत होता है तब भी वह जागता रहता है। वह सच्चे अर्थों में राष्ट्र, जाति समाज तथा मानवता का प्रहरी होता है। जब अन्य लोग मैदान छोड़कर वहाँ से पलायन कर जाते हैं। तब भी वह अत्यन्त निर्भीक होकर सिंह की भाँति डटा रहता है। वह परिस्थितियों से घबराता नहीं है। परिस्थिति उसकी दासी हो जाती है। दूसरे लोग परिस्थिति से घबराते हैं। उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं और उसीके अनुसार अपने में परिवर्तन करते हैं। पर महापुरुष

अपने परिस्थितियों के अनुरूप बना लेते हैं। परिस्थितियों का वह अनुगमन नहीं करता है। परिस्थितियाँ ही उनका अनुगमन करने लग जाती है।

उनका साधारण से साधारण कार्य भी जन सामान्य से भिन्न होता है, जबकि वह उसीका एक अंग होता है। उनके प्रत्येक आचरण से जनता शिक्षा ग्रहण करती है। उनकी कर्म में आसक्ति नहीं होती है। समाज को कर्म में प्रवृत्त कराने के लिये ही वे कर्म करते हैं क्योंकि उनका कर्म लोगों के लिये प्रमाण होता है। मनुष्य उन्हींका अनुसरण करता है। इसी बात को गीता में महर्षि वेदव्यासजी ने योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण के मुख से इस प्रकार कहलाया है—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तद् देवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥

गीता ३।२१।

जीवन काल में तो महापुरुष सत्प्रयत्न तथा सदुपदेशों द्वारा महान् उपकार करते हो हैं। अनन्त की ओर चले जाने पर भी वे समाज राष्ट्र तथा सम्पूर्ण जगत् को सतत् आलोक प्रदान करते रहते हैं। वास्तव में वे मरते नहीं है। भौतिक शरीर का त्याग वे भले ही कर देते हैं। अपने पुण्य कर्मों से वे सदा जीवित रहते हैं। उनका नाम अमर हो जाता है। दूरदर्शी युग पुरुष महर्षि दयानन्द भौतिक शरीर से आज इस वसुन्धरा को भले ही शोभायमान नहीं कर रहे हैं, परन्तु उनका यशोमय दिव्य शरीर आज ही हमारे मध्य विराजमान है। उनकी गुणगरिमा प्रचण्ड सूर्य की प्रखर रश्मियों की भाँति चारो ओर फैल रही है। वह ज्योति किसी एक समूह, जाति, समुदाय या एक राष्ट्र का ही महत्त्व नहीं है। उसके लिये, गरीब धनी, काला, गोरा का कोई भेद नहीं है। वह ज्योति सम्पूर्ण जगत में देदीप्यमान हो रही है। कोई दूसरी ज्योति उसके समक्ष ठहर नहीं सकती। विरोधी शक्तियों को वह पूर्णतया भस्मीभूत कर देती है। वह कभी बुझ नहीं सकती। वह प्रकाश प्रोज्वल तथा चिरस्थायी है। उस प्रकाश ने महर्षि को प्रत्येक जनमानस में पहुंचा दिया है। सारा जगत् महर्षि के गुणों का गान कर रहा है। महर्षि की देन से विविध चेष्टाशील प्राणियों से परिपूर्ण जगत् अनेक प्रकार से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। अनेक क्रान्तियों तथा विचारों का समन्वय-सा कर रहा है। महर्षि का गौरव महान् है। उनकी महती महिमा को सब कोई जान भी नहीं सकते। सच्चा रत्न पारखी ही उसे परख सकता है। महान प्रयास से ही उनकी महिमा जानी जा सकती है। भारतवर्ष में बहुत से महापुरुषों ने पदार्पण कर अपनी महती देन देकर उसे उपकृत किया है। उन सभी महापुरुषों का भारतवर्ष ऋणी है। महर्षि दयानन्द का ऋण इस देश पर सबसे अधिक है। क्योंकि उन्होंने जो देन दी है। वह पाँच हजार वर्षों से आजतक किसी ने नहीं दी है।

३—वेद की देन

वेद मानव जाति का सबसे प्राचीन पवित्र और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। वह सब विद्याओं तथा ज्ञान विज्ञान का आकार है। परमेश्वर से लेकर तृण तक सभी छोटे बड़े पदार्थों का इसमें विवेचन किया गया है। परम कारुणिक भक्तवत्सल परम पिता परमेश्वर प्राणी मात्र के कल्याण की कामना से सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार महर्षियों को चारों वेद का ज्ञान दिया। उन पवित्रात्मा तपःपूत ऋषियों ने अन्य ऋषियों को उनका ज्ञान कराया। गुरु शिष्य परम्परा उत्तरवर्ती कालों में इसका प्रचार हुआ। इसका ऋग्वेद के दशम मण्डल के एकहत्तर सूक्त में इस प्रकार वर्णन किया है—

'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रे यत्प्रैरत नाम धेयंदधानाः। यदेषां श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ यज्ञेन वाचं पदवीयमायन् तामन्व विन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसं न सन्ते" ऋ० १०.७१।१।३ ॥

इस प्रकार महाभरत काल से अबाध रूप से इस ज्ञान की परम्परा चलती रही है। समय-समय पर जब इसके प्रचार

में शिथिलता आने लगी तो ऋषियों ने पुनः अत्यन्त कष्ट सहन कर इस ज्ञान ज्योति के आलोक को सर्वत्र फैला दिया। महाभारत युद्ध के पश्चात वेद के पवित्र ज्ञान का ह्रास हो गया। क्योंकि महाभारतयुद्ध का परिणाम मानव जाति के लिये अच्छा नहीं हुआ। युद्ध के साथ बहुत से विद्या विज्ञानों की भी समाप्ति हो गई। ऋषियों की परम्परा पर भी उसका प्रभाव पड़ा। वेद ज्ञान के ह्रास के कारण भारतवर्ष की जो क्षति पहुँची उसकी पूर्ति सैकड़ों वर्षों में भी नहीं की जा सकती। सब लोग धर्म कर्म से हीन हो गये। अपने गौरव को भी सबों ने भुला दिया। जब अपनी मर्यादा को भूल चुके तब उसके अन्तस्तल में अज्ञान का प्रवेश होना ही था। फिर अपने को सम्भाल भी न सके। अनेक मतमतान्तरों की सृष्टि होने लगी। वर्ण व्यवस्था भंग हो गई। आश्रम व्यवस्था भी जाती रही। समाज अनेक जातियों में विभक्त हो गया। छुआछूत की अत्यन्त भयंकर महामारी ने भी समाज को दबोच लिया। सामाजिक संगठन पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। एकता का सर्वथा अभाव हो गया। एकता के अभाव में समाज तथा देश अत्यन्त दुर्बल हो गया। अनेक कुरीतियाँ भी लोगों में घर कर गई। परिणाम यह हुआ कि देश कई खण्डों में विभक्त हो गया। दूसरी विरोधी शक्तियों ने देश पर आक्रमण कर दिया। यहाँ का एकता हीन विछृङ्खलित समाज में आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि देश चिर काल के लिये दासता की अर्गला में जकड़ गया।

समाज में धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के दुराचार होने लगे। वेदों का पठन पाठन लुप्त हो गया। यदि कहीं इसका पठन पाठन था भी तो मन्त्र पाठ तक सीमित रहा। मन्त्रार्थ का परिज्ञान बिल्कुल नहीं था। इसके सम्बन्ध में पण्डितों में यह धारणा व्याप्त हो गयी थी कि वेद के मन्त्रों कर कोई अर्थ नहीं होता। अर्थ की चेष्टा करने से पाप होता है। अतः यज्ञ-वेदी पर बैठकर पाठ कर लेना और उसे बोलकर आहुति दे देना ही पर्याप्त है। उस समय जो भाष्य थे भी वे पूर्ण रूपेण दूषित तथा वेदकी मर्यादा को घटाने में सहायक थे। मध्यकालीन भाष्यकारों ने जो अर्थ किया भी था। उससे वेद की प्रतिष्ठा पर बहुत धक्का पहुँचा। उनका अर्थ केवल यज्ञ परक था। अश्लीलता की कमी नहीं थी। सायण ने यज्ञपरक अर्थकरके अपनी प्रतिज्ञा को नहीं निभाया जो वेद की अपौरुषेयता तथा उसकी महिमा के सम्बन्ध में की थी। महीधर ने अश्लीलता की भरमार कर दी। इन भाष्यकारों ने यज्ञ में पशु बलि तथा मांस भक्षण का भी वर्णन मन्त्रार्थों में किया। जब कि मन्त्र के पदों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं और शतपथ, निघण्टु, निरुक्तादि के व्याख्यान के सर्वथा विरुद्ध है। वृक्षादि जड़ वस्तुओं की पूजा का भी विधान इन भाष्यकारों ने अपने अर्थों में किया। इसका वेद पर बहुत बुरा प्रभाव हुआ। कतिपय पाश्चात्य विद्वान तथा उनके चरण चिह्नों पर चलनेवाले उच्छिष्ट भारतीयों ने भी यह राग अल-पना प्रारम्भ कर दिया कि वेद गड़रिया के गीत है। इन भाष्यों के आधार पर अल्पबुद्धि पाश्चात्य लोग तथा उनके अनुयायी भारतीय ऐतिहासिक वेद में अनित्य इतिहास की कल्पना करने लगे।

महर्षि दयानन्द ने प्रबल युक्तियों और शास्त्र प्रमाण के आधार इन विचारधाराओं का खण्डन किया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वेद गड़रिया के गीत नहीं सभी विद्या विज्ञानों का भण्डार है। उसका भी उन्होंने खण्डन किया कि वेद के मन्त्रों के कोई अर्थ नहीं होते। ऋषि ने यह भी सिद्ध किया कि वेद में अनित्य इतिहास नहीं है। मन्त्रों में जो व्यक्तियों के नाम के सदृश शब्द दिखाई देते हैं। वे किसी व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं है। उन शब्दों का अर्थ होता है। मन्त्रों के त्रिविधार्थ का भी उन्होंने प्रति-पादन प्रकरणानुसार मन्त्रों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ होते है। महर्षि के पूर्व के भाष्य कारों ने केवल यज्ञ परक अर्थ किया था। महर्षि ने अपने वेद भाष्य में तीनों प्रकार का अर्थ किया है। कहीं पर मन्त्र का एक कहीं दो तथा कहीं तीनों अर्थ होते हैं। उदाहरण स्वरूप

इन्द्र शब्द का अर्थ ऐश्वर्यशाली है। लौकिक संसार में राजा सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली होता है। अतः आधिभौतिक प्रकरण में इन्द्र शब्द का अर्थ राजा और वीर सेनापति होता है। आधिदैविक क्षेत्र में इन्द्र विद्युत और सूर्य का वाचक होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इन्द्र शब्द से आत्मा और परमात्मा का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अग्नि, वरुण, अश्विनौ, रुद्र, विष्णु, अदिति, नहुष, यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वश, उर्वशी आदि शब्द भी यौगिक है। अनित्य इतिहासवाद का भी उन्होंने खण्डन किया। ऋषि के इस विचार तथा उनकी वेद भाष्य शैली का प्रभाव उत्तरवर्ती भाष्यकारों पर भी पड़ा। जो विद्वान आर्य समाजी नहीं हैं उन्होंने भी, अग्नि इन्द्र वरुण आदि शब्दों का ईश्वर परक अर्थ किया है। अन्य लोगों की भी वह धारणा जाती रही की वेद केवल कर्मकाण्ड परक है। अधिकांश लोगों में वेद सम्बन्धी अनुसन्धान तथा पठन-पाठन की ओर प्रवृत्ति हुई। जिन मन्त्रों का कभी स्वप्न में भी दर्शन या उच्चारण की कल्पना नहीं होती थी। आज बच्चे तक उनसे परिचित हैं।

४ धार्मिक देन

महर्षि दयानन्द के समय तक धर्म क्रम शब्द का अर्थ केवल एक मत या सम्प्रदाय तक सीमित था। सब लोग धर्म की वास्तविकता से दूर हो गये थे। जो कोई साधु या नेता हुआ, अपने नाम पर मत चला दिया। उसी का नाम धर्म रख दिया गया। व्यक्तियों के विचार तक धर्म को सीमित कर दिया गया। बहुत सी ऐसी चीजें धर्म के नाम पर प्रचलित हुई जो समाज को अधः पतन की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध हुई। धर्म के ही नाम पर यज्ञों में गाय, घोड़े, बकरी, आदि पशुओं तथा मनुष्य तक की बलि दी जाने लगी। पति के मरने पर स्त्रियों को बलपूर्वक जीवित जला देने की प्रथा का भी प्रचलन प्रारम्भ हो गया। गर्भ हत्या तथा व्यभिचार भी धर्म की आड़ में होने लगे। कुछ लोगों ने धर्म का ठेकेदार बनकर जनता को लूटना खसोटना अपना परम कर्तव्य समझ लिया। हजार मत की सृष्टि हो गई। एक के विरोधी नौ सौ निन्यानवे थे। इन मतों का आधार कपोल कल्पित गाथाएँ तथा पुराणादि ग्रन्थ थे। वैदिक धर्म से दूर होकर लोगों ने पाखण्ड का आश्रय लिया। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर एक मात्र देव परमपिता परमेश्वर को छोड़ कर बहुत से देवी देवताओं भूत, प्रेत और पिशाचों की पूजा होने लगी। महर्षि दयानन्द ने इस धाँधली तथा पाखण्ड के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया। इस स्थिति से उन्होंने देश को मुक्त करके सत्य को खोज निकाला। पुराण, बाइबिल, कुरान आदि सभी मत मतान्तरों के ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया। उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर वेद के मन्तव्य पर जनता को चलने की सम्मति दी। मनु प्रतिपादित धृत्यादि दश लक्षण तथा पतञ्जलि द्वारा वर्णित पाँच यम और पाँच नियम को धर्म का प्रतीक बताया। वेद के द्वारा विहित सत्याचरण पर उन्होंने विशेष बल दिया। महर्षि ने समाज को यह बताया कि धर्म किसी जाति, समुदाय, देश विशेष या समय से बाधित नहीं होता है। उसका क्षेत्र व्यापक है। वेद प्रतिपादित सत्य नियम ही धर्म है। उसके विपरीत इतर अधर्म है। धर्म के नाम पर जितनी बुराइयाँ फैली हुई थी। उन सबका उन्होंने निराकरण किया। जड़ मूर्तिपूजा, जल स्थल तीर्थ में विश्वास इत्यादि अवैदिक मतों का निराकरण कर ऋषि ने जनता में नवीन चेतना ला दी। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़िवाद तथा बुराइयों को परे फेंक कर सत्य को ग्रहण किया।

५—राष्ट्रियता की देन

महर्षि दयानन्द के समय भारत में अंग्रेज शासन करते थे। वैसे तो सन्१८५७ में विदेशी राज्य के विरुद्ध देशभक्तों ने सशस्त्र क्रान्ति की। सेनापति ताँत्याटोपे और महारानी लक्ष्मी बाई ने भारत माता के यश में चार चान्द लगा दिये, परन्तु क्रान्ति की भावना जनमानस में पहुँचाने की

आवश्यकता थी। कोई भी क्रान्ति तभी सफल हो सकती है जब कि उसे अधिकांश जनता का सहयोग प्राप्त हो। महर्षि दयानन्द इस बात को भलीभांति जानते थे। उन्होंने जहाँ लोगों को धार्मिक उपदेश देकर कृतार्थ किया। वहाँ राष्ट्रीयता का भी उपदेश दिया। राजाओं से मिलने का उनका यही अभिप्राय था कि सब देशी राजा विषयासक्ति और विलासिता आदि दुर्गुणों को त्याग कर सच्चरित्र बनें। सब राजाओं की शक्ति संगठित होकर देशको स्वतन्त्रता दिलाने में समर्थ हो सकती है। इसी विचार को हृदय में स्थान देकर महर्षि ने अपना अमूल्य समय इस प्रयास में समर्पित किया। परन्तु यह देश का महान् दुर्भाग्य था कि तत्कालीन राजाओं ने उनके महत्वको नहीं समझा। महर्षि सुराज्य से स्वराज्य को अधिक महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में विदेशी शासन अच्छा होने पर भी ठीक नहीं था। इसका आभास हमें सत्यार्थ प्रकाश की निम्न पंक्तियों से प्राप्त होता है— विदेशी राजा यदि पुत्र के समान प्रजा का पालन करते हों तो भी अच्छा नहीं है और स्वदेशी राजा दुष्ट हो तो भी अच्छा है। कितनी उच्चकोटि की राष्ट्रीयता की भावना उनमें विद्यमान थी। महर्षि के अतिरिक्त किसी नेता ने इस प्रकार का विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया। एक बार एक अंग्रेज ने जब उनसे निवेदन किया कि आप ब्रिटिश साम्राज्य के कल्याण के लिये परमेश्वर से प्रार्थना कर दिया करें। उनका उत्तर यही था कि भारत से ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति के लिये तो मैं प्रतिदिन प्रार्थना कर सकता हूँ, परन्तु उसके कल्याण के लिए कभी नहीं कर सकता। सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थों में उन नैतिक नियमों तथा कार्यों के पालन का निर्देश किया है। जो एक महान राष्ट्र भक्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को देश की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लक्ष्य से सशस्त्र क्रान्ति की भूमिका तैयार करने के लिए उन्होंने ही इङ्गलैण्ड भेजा था। सत्यार्थ प्रकाश का छठा सम्मुल्लास पूर्ण रूप से राजनीतिक विचार प्रदान करता है। आर्याभिविनय आदि ग्रन्थों में भी स्वराज्य विषय ऋषि उदात्त भावनाओं का दर्शन होता है। ऋषि के विचारों से प्रभावित होकर स्वाधीनता संग्राम में उनके अनुयायी आर्यों ने न केवल सत्याग्रही के रूप में भाग लिया अपितु सरदार अजित सिंह, सरदार भगत सिंह, सरदार करतार सिंह, भाई परमानन्द, राम प्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद आदि नेताओं ने क्रान्तिकारी के रूप में शक्तिप्रयोग द्वारा साम्राज्यवाद को दहला दिया। सरदार अजित सिंह ने इटली में आजाद हिन्दुस्तान लश्कर नामक सैन्यदल की स्थापना करके साम्राज्यवाद के एक महान आश्चर्य पैदा कर दिया। बाद में यही सैन्यदल स्वनाम धन्य नेताजी श्री सुभाष चन्द्र बोस की आजाद हिन्द सेना के रूप में परिणत हो गया। गाँधीजी की परम्परा में भी राष्ट्रिय जागृत का श्री गणेश महर्षि दयानन्द से ही प्रारम्भ हुआ। पूना के प्रसिद्ध लोक नेता न्यायाधीश श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने महर्षि को गुरु रूप में प्राप्त कर उनसे राष्ट्रिय विचार ग्रहण किया। कालान्तर में महात्मा गोपाल कृष्ण गोखले ने रानाडे से राष्ट्रियता का पाठ सीखा। सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन के प्रवर्तक महात्मा गाँधी ने राष्ट्रियता का विचार श्री गोखले से प्राप्त किया। इस प्रकार महर्षि के उदात्त राष्ट्रिय विचार ने उत्तरवर्ती कालमें व्यापक रूप से देश में जागृति उत्पन्न की।

६— राष्ट्रभाषा की देन

प्रत्येक देश में अपनी संस्कृति, वेश-भूषा, रहन सहन और भाषा होती है। तभी वह देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। कोई भी राष्ट्र भाषा तभी बन सकती है, जबकि उसमें यह क्षमता हो कि वह जनमान में सरलता से स्थान पा सके। राष्ट्रभाषी उसका भलीभांति अपने कार्य में उपयोग कर सके। महर्षि दयानन्द ने गम्भीरता के इस बात पर विचार किया और उद्घोषणा की पूरे राष्ट्र की एक भाषा होनी चाहिए। यद्यपि मुसलमानों के शासनकाल में हिन्दी का विकास हो चुका था। कबीर, सूर, तुलसी आदि हिन्दी

साहित्य के सितारे पैदा हो चुके थे। उन्होंने अपनी रचनायें हिन्दी में की वह प्रयोग कविता के क्षेत्र तक सीमित थी। महर्षि ने राष्ट्र भाषा के पद पर हिन्दी को आसीन किया। सर्वप्रथम महर्षि ने ही यह घोषणा की कि भारत की राष्ट्रभाषा होनी चाहिए और वह हिन्दी हो। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों की रचना हिन्दी में की। संस्कृति के उच्चकोटि के विद्वान तथा मातृभाषा गुजराती होते हुए भी जनमानस तक अपनी आवाज पहुँचाने के विचार भी हिन्दी में ही व्यक्त किया। वेद भाष्य जैसे उच्चकोटि के ग्रंथ का प्रणयन हिन्दी में किया। हिन्दी पर उनका विशेष अधिकार भी नहीं था। महर्षि द्वारा लगाया हुआ राष्ट्रभाषा का पौधा, अनेक झकोरों, आन्धी को सहता हुआ निरन्तर पुष्पित और पल्लवित हो रहा है। यद्यपि कतिपय स्वार्थी और देश द्रोही लोग इसके विरूद्ध षड्यन्त्र रच कर इसके विकास में बाधा उपस्थित कर रहे हैं। परन्तु महर्षिका त्याग तप विफल नहीं हो सकता। उनके पावन पद चिह्नों पर चलने वाले आर्य जन हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने तथा व्यापक रूप में उसका प्रचार करने के लिये दत्तचित हैं।

७— नारी जाति का उत्थान

यद्यपि प्राचीन काल में नारी का स्थान समाज में बहुत ऊँचा रहा है। शिक्षा आदि के क्षेत्र में पुरुष के समान उनका अधिकार माना जाता था। जहाँ वैदिक सूक्तों के द्रष्टा विश्वामित्र, गोतम और मधुच्छन्दा आदि ऋषि थे, वहाँ प्राचीन भारतीय नारियाँ भी पीछे नहीं थी। लोपामुद्रा और शती पौलोमी आदि कई नारियों वैदिक सूक्तों के अर्थों का साक्षात्कार किया था। इसके अतिरिक्त गार्गी, मैत्रीय, सुलभा, शाण्डिली और सुमना आदि नारियाँ ब्रह्मवादिनी थी। यज्ञादि कर्मों में नारी का स्थान इतना अधिक महत्वपूर्ण था कि उसके बिना यज्ञादि कर्म की पूर्ति नहीं हो सकती थी। भारत के प्रसिद्ध विधान निर्माता भगवान मनु ने तो उसी परिवार में सुख शान्ति का साम्राज्य माना है, जहाँ नारियाँ पूजी जाती है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"। परन्तु मध्यकाल में जब वेदों का प्रचार विलुप्त हो गया। तब स्त्रियों की स्थिति में दयनीयता आ गई। मध्यवर्ती आचार्यों ने नारी जाति के साथ घोर अन्याय किया। उन्हें शिक्षा से वंचित कर दिया गया। उसे पुरुष की इच्छा पूर्ति का साधन मात्र समझा गया। यहाँ तक कि आचार्य शंकर जैसे ब्रह्मवादियों ने भी जो सबको ब्रह्म समझते थे, नारी जाति पर दया नहीं की। बल्कि उन्होंने उसे नरक का द्वार तक कह दिया। पुराणों में पदे-पदे उसकी निन्दा की गई। गोस्वामी तुलसी दास ने "ढोल गंवार शुद्र पशु नारी। ये सब ताड़ने के अधिकारी" तथा 'अवगुण आठ सदा उर रहहीं' कह कर इसकी प्रताड़ना की है। परन्तु सृष्टि का यह नियम है सदा दुःख की ही घड़ी नहीं रहती है। परमेश्वर ने महती अनुकम्पा करके इसकी सुध ली। उन्नीसवीं शताब्दी में एक अत्यन्त तेजस्वी तथा प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने जब देखा की मातृशक्ति का इस प्रकार अपमान हो रहा है तब उनकी आत्मा व्यथित हो उठी। उन्होंने प्रबल युक्तियों तथा वेदादि शास्त्र के प्रमाणों द्वारा मध्यवर्ती आचार्यों तथा पुरानों के मत का खण्डन किया। उन्होंने नारी जाति को पुनः उसी पद पर आसीन किया। जो प्राचीन काल में प्राप्त था। ऋषि ने जहाँ बालकों को शिक्षा दीक्षा के लिये बल दिया है वहीं कन्याओं की शिक्षा के लिए भी विशेष बल दिया है। न केवल बालकों के लिये, विद्यालयों तथा गुरुकुलों की स्थापना पर जोर दिया, अपितु कन्याओं के लिए भी गुरुकुलों की स्थापना का प्रतिपादन किया। यह महर्षि की ही महती कृपा का फल है कि जहाँ नव भारत के युवक गुरुकुलों में सांगोपांग वेदों को पढ़कर स्नातक होते हैं। कन्यायें भी उक्त विद्यायें पढ़ स्नातिका होकर कार्य क्षेत्र में पदार्पण करती है। यद्यपि वर्तमान काल में सरकार ने स्त्री पुरुष का भेद भाव दूर कर स्त्री शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया है, परन्तु वर्तमान शिक्षा ने नारी को भूषित करने के स्थान पर दूषित कर दिया है। महर्षि दयानन्द ने

जहाँ नारी जाति को शिक्षा दिलाने का प्रयास किया है, वहाँ उसके चारित्रिक विकास पर भी बल दिया है।

८—दलितोद्धार

यद्यपि आजकल सरकार दलित लोगों के उद्धार की बहुत डींग हाँकती है, परन्तु उसके निदान करने में सर्वथा असफल रही है। छूआछूत तथा जातिवाद मिटाना तो दूर रहा। उनके स्थान में एक अलग जाति का निर्माण ही हो गया और उसे लोग त्यागने को तैयार नहीं है। जिस विष को दूर करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। प्राचीन काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था। वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म था न कि जन्म। अपनी योग्यता तथा त्याग तप के बल पर भी ब्राह्मण बन सकता था, जो किसी ब्राह्मण के यहाँ उत्पन्न नहीं हुआ। परन्तु मध्यकाल में स्वार्थी लोगों ने वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर निश्चित कर ली और मनुष्य की जीविका के आधार पर जातिवाद का बवेला खड़ा कर दिया। अपने को ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाने वालों ने धर्म तथा सभी व्यवस्थाओं का ठेकेदार मान लिया। वैश्यों से भी इन्होंने समझौता करके अपने साथ उन्हें कर लिया। ये तीनों मिलकर शूद्रों तथा अन्य दलितों पर अत्याचार करने लगे। उनको अपवित्र और अछूत घोषित कर दिया। वे न तो कुएँ से जल ले सकते थे, न गाँव में बस सकते थे, न पढ़-लिख सकते थे। बल्कि उनके पढ़ने पर इतना कठिन प्रतिबन्ध लगा दिया कि अक्षर का ज्ञान करना भी उनके लिये अत्यन्त कठिन हो गया। उनके लिये निम्न दण्ड निर्धारित किया गया। यदि वेद मन्त्रों का श्रवण कर लेवें तो कान में सीसा चुनवा दिया जाय, उच्चारण करने पर जिह्वा का उच्छेद कर दिया जाय। यदि धारण कर लेवे तो अंग-प्रत्यंग का छेदन कर दिया जाय। यदि कोई उच्च वर्ण या जाति का व्यक्ति भूल से अथवा जानकर शूद्र तथा निम्न जाति के हाथ का अन्न या जल ग्रहण कर ले तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया। मौलवी या ईसाई पादरियों की शरण छाया में उसे शरण मिलता था। उसे शुद्ध कर आत्मसात् करने की शक्ति समाज में नहीं थी। मुस्लिम तथा अंग्रेज शासकों के समय इस प्रकार के बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई बना लिया गया। महर्षि दयानन्द ने वेदादि शास्त्रों के आधार तथा युक्ति द्वारा गुण कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन किया। उन्होंने छूआछूत तथा जातिवाद का घोर विरोध किया। हाँ मांसाहारियों के यहाँ का भोजन निरामिष भोजियों के लिये उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया। उन्होंने यह भी लोगों को बताया कि किसी कारणवश जो मुसलमान या ईसाई बन गये हैं। उन्हें शुद्ध करके अपने में आत्मसात् वेदादि शास्त्रों के अनुकूल है। महर्षि का यह विचार उनके स्वनाम धन्य शिष्य अमर हुतात्मा श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी के समय व्यापक रूप फलित हुआ।

९ शिक्षा की देन

जिस प्रकार शरीर की उन्नति के लिये शुद्ध, पवित्र तथा पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार आत्मिक तथा मानसिक उन्नति के लिये शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता होती है। शिक्षा के ही अनुसार मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है। जैसी शिक्षा उसे मिलती है वैसा ही वह बनता है। बुरी शिक्षा मिलने पर मनुष्य बुरा बनता है तथा अच्छी शिक्षाप्राप्त होने पर मनुष्य श्रेष्ठ तथा सच्चरित्र बनता है। महर्षि के समय देश अंग्रेजों की दासता की बेड़ी में जकड़ा था। अंग्रेजों को भारतीयों के चरित्र निर्माण से आवश्यकता ही क्या थी। वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों का चरित्र ऊँचा न उठने पावे। वे अपने पूर्वजों के रहन-सहन तथा प्राचीन गौरव को भूल जाय। इसकी पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय जिस से अपने धर्म, संस्कृति तथा साहित्य आदि से घृणा हो जाय। पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा विद्वानों के प्रति श्रद्धा की भावना जागृत हो। शरीर मात्र से भारतीय

हो। वेश भूषा, रहन-सहन, शिक्षा दीक्षा तथा विचार से पूरा अंग्रेज हो। लार्ड मैकाले ने यह योजना बनाकर यहाँ की शिक्षा पद्धति पर कुठाराघात किया। यहाँ की शिक्षा संस्था को बन्द कराकर पाश्चात्य शिक्षा का श्री गणेश हुआ। साम्राज्यवाद को इसमें आशा से अधिक सफलता प्राप्त हुई। ऐसे समय में महर्षि दयानन्द ने भारतीयों का ध्यान अपनी प्राचीन शिक्षा प्रणाली की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने यह सिद्ध करके दिखला दिया कि भारतीय शिक्षा पद्धति ही मानव का निर्माण कर सकती है। इसके निमित्त ऋषि ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर बल दिया। जहाँ राजा तथा दरिद्र दोनों का पुत्र समान स्थिति में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करे ऐसा विधान किया। गुरुकुल प्रणाली में जातिवाद छूत छात आदि का कोई भी स्थान नहीं है। गृह त्यागी होकर नगर के वातावरण से दूर रहकर ब्रह्मचारी गुरु के सान्निध्य में अध्ययन के साथ-साथ चरित्र निर्माण भी करता है। ब्रह्मचारी को भोजन सादा और विचार उच्च होता है। गुरुकुल वास में दूर देशीय सहपाठियों के साथ रहकर बन्धुत्व तथा सौहार्द्र की भावना अपने अन्दर पैदा करता है। निरन्तर दीर्घकाल तक प्रवास में रहने के कारण ब्रह्मचारी के मन में अपने पराये का भेद नहीं रह जाता है। वह सभी मनुष्य को अपना भाई तथा सुहृद समझता है। निरन्तर त्याग तप की साधना से तपे होने के कारण किसी के प्रतिपक्ष पात की भावना नहीं रहती है। पापी और स्वार्थी प्रवृत्ति उसके समक्ष टिक नहीं पाती। इस युग में इस पद्धति को पुनर्जीवन दिलाने का श्रेय देव दयानन्द को ही है। यद्यपि महर्षि के समय में गुरुकुलों की स्थापना न हो सकी। परन्तु ऋषि का दिव्य विचार जो अंकुर के रूप में पैदा हुआ प्रतिदिन वृद्धि की ओर अग्रसर होता गया। उनके शिष्य स्वामी श्रद्धानन्दजी और स्वामी ने कई गुरुकुलों की स्थापना की। आगे चलकर इन गुरुकुलों से पढ़कर निकले हुए स्नातकों ने धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति में महान योगदान दिया। यद्यपि वर्तमान काल में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पहले की भाँति नहीं रही। फिर भी आजकल के अन्य शिक्षणालयों से तो अच्छा ही है। गुरुकुलों में पढ़े हुए छात्रों के मन में माता, पिता, गुरु, आचार्य, समाज तथा देश के प्रति भक्ति भावना तो रहती ही है।

१० शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन

महर्षि दयानन्द ने न केवल नवीन पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का खण्डन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन किया। अपितु पठनपाठन विधि में भी क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव की। उस समय नवीन शिक्षण संस्थाओं में तो भारतीय संस्कृति तथा धर्म पर क्या मान दिया जाना था। जो संस्कृत विद्यालय तथा पाठशालाएँ थी। वहाँ भी संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति रो रही थी। गुरुलोग छात्रों को कौमुदी के सूत्र तथा वृत्ति कण्ठस्थ करा देने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते थे। संस्कृति और धर्म के मूलभूत आधार वेद और दर्शन का कोई स्पर्श तक नहीं करता था। फक्किका रटने में ही छात्र अपना सारा जीवन खपा देते थे। महर्षि दयानन्द ने इस अवस्था में महान् परिवर्तन लाने की इच्छा से सिंहनाद किया। उन्होंने प्रबल युक्तियों और तर्कों द्वारा अनार्षग्रन्थों को पढ़ने से निषेध किया। ऋषि ने बताया कि आर्ष पाठ विधि द्वारा ही हम वेदों तक पहुँच सकते हैं। ऋषि प्रणीत ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है जैसे समुद्र में गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना, अनार्ष का पढ़ना ऐसा है, पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना। जब कि अनार्ष पद्धति से बारह वर्ष में केवल व्याकरण का भी भलीभाँति ज्ञान नहीं हो पाता। है। आर्ष पाठ विधि से उससे बहुत अधिक ज्ञान तीन चार वर्षों में हो जाता है। बारह वर्ष में इस विधि से परिश्रमशील छात्र सांगोपांग वेदों को अधिगत कर सकता है? ऋषि की यह कोरी कल्पना नहीं है। उनका प्रत्यक्ष अनुभव है। गुरु विरजानन्दजी के यहाँ उन्होंने तीन वर्ष में सम्पूर्ण व्याकरण

शास्त्र का अध्ययन पूरा कर लिया था। ऋषि के इस विचार को आगे चलकर और बल मिला। स्वर्गीय आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु और पूज्य श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। आचार्य जिज्ञासुजी ने आर्ष पाठ विधि से चार वर्ष में व्याकरण शास्त्र का पूरा ज्ञान करा देने के सक्रियात्मक प्रयोग में महती सफलता प्राप्त की। यद्यपि आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं ने ऋषि के इस विचार की पूर्ति के लिये क्रियात्मक पग नहीं उठाया। परन्तु महर्षि की उदात्त भावना विचार की दीवार को भेदकर विद्वानों के अन्तस्तल में जा पहुँची। जो उनके अनुयायी नहीं हैं वे ऋषि की इस उदात्त भावना को पूरा करने के निमित्त प्राण-पण से अपने को निछावर कर दिए हैं।

११ निर्भीकता और आत्महुति की भावना

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है और समाज में ही उसका अन्त होता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसे समाज में रहना पड़ता है। उसके बिना वह जीवन यापन नहीं कर सकता है। जीवन सुचारू रूप से चलाने के लिये एक दूसरे की सहायता लेनी पड़ती है। समाज के प्रति उनका कुछ दायित्व तथा कर्त्तव्य भी होता है। उस दायित्व तथा कर्त्तव्य का पालन करने के लिये त्याग, तप और आत्माहुति की भी आवश्यकता होती है। देश के प्रत्येक नागरिक को ऐसी स्थिति आने पर देश की रक्षा के निमित्त आत्म-त्याग करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। जिस राष्ट्र या समाज में आत्म त्यागी हुतात्माओं का अभाव होता है। वह राष्ट्र या समाज अपनी स्वतन्त्रता तथा अस्तित्व को भी खो देता है। आत्म त्याग सब कोई नहीं कर सकता। इसके लिये निर्भीकता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। निर्भीकता और आत्मत्याग का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। महर्षि दयानन्द के समय देश में आत्मत्यागी तथा निर्भीक लोगों की अत्यन्त आवश्यकता थी। साम्राज्यवाद के द्वारा दमन चक्र जोरों पर था। उसके समक्ष किसी को शिर उठाने का भी साहस नहीं होता था। सन् १८५७ की प्रथम क्रान्ति विफल कर दी गई थी। ऐसे गम्भीर अवसर पर महर्षि दयानन्दजी ने अपने देशवासियों के समक्ष पूर्व पुरुषों की गौरवपूर्ण गाथा, आत्मत्याग, कष्ट सहिष्णुता, तथा निर्भीकता का ज्वलन्त उदाहरण रखा। इससे देशवासियों में नवीन जागृति और चेतना आ गई। अपने पूर्वजों के त्याग, तप और वीरगाथा को सुनकर उनके खून खौल उठे, भुजाएँ फड़कने लगी। अपने प्राचीन गौरव तथा स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये वे आतुर हो उठे। फिर क्या था, भय को एकदम परे फेंक कर जननी जन्म भूमि की रक्षा के लिये महान से महान आत्म त्याग करने के लिये तत्पर हो गये। फिर जिस आत्म-त्याग और निर्भीकता की बाढ़ देश में आई उसने साम्राज्य-वाद को जड़ से उखाड़ करके फेंककर दम लिया। आर्य-समाज की प्रगति तथा वैदिक धर्म के प्रचार के लिये आर्यों को अत्यन्त कठिनाइयों तथा विपत्तियों का सामना करना पड़ा। उनका सामना करने में आर्य वीरों ने जिस त्याग, तप, धर्म, आत्म संयम और निर्भीकता का परिचय दिया। सब महर्षि के ही तपस्या और त्याग का फल था।

१२ एकता की देन

महर्षि के समय देश में विविधता भयंकर रूप में विद्यमान थी। कई समाज सुधारकों ने उन विविधताओं को मिटाकर देश तथा समाज में एकता स्थापित करने का महान प्रयास किया। परन्तु उनका आदर्श, कार्यशैली तथा उनकी मान्यता का आधार भारतीय नहीं था। पाश्चात्य देशों के धोखा धड़ी पूर्ण नीति को वे श्रेष्ठ समझते थे। उनमें आत्म संयम, त्याग, तप तथा निर्भीकता का भी अभाव था। जिससे भारतीय जनता में वे ऐक्य स्थापित करने में सफल नहीं हुए। जातिवाद तथा जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था दिन प्रतिदिन देश को गर्त में पहुँचा रही थी। इसका निदान भी सरल नहीं था। वर्तमान सरकार भी एकता

स्थापित करने का दम्भ भरती है, परन्तु अब तक वह एकता स्थापित करने में सर्वथा विफल रही है। किसी एक पक्षको सन्तुष्ट करने की नीति से एकता स्थापित नहीं हो सकती। अपनी संस्कृति, गौरव तथा प्राचीन मान्यताओं को सर्वथा तिलाञ्जलि दे देने से भी एकता की स्थापना सम्भव नहीं हो सकती। महर्षि दयानन्द ने वेदादि शास्त्रों का अवगाहन करके "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा लगा कर सम्पूर्ण संसार को एकता का सन्देश दिया। इस नारा का सम्बन्ध केवल भारत वर्ष से नहीं, विश्व से है। सब मतमतान्तरों का निराकरण करके वैदिक धर्म पर चलने का आदेश दिया। विभिन्न कल्पित देवी देवता की उपासना को त्याग एक मात्र परम आराध्यदेव परमेश्वर की उपासना करने का उपदेश दिया। एक सभा, एक विचार तथा समान रहन सहन पर बल दिया। जातिवाद का निराकरण कर गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। एक साथ विचार के निमित्त एक भाषा की आवश्यकता का अनुभव हिन्दी अपनाने पर जोर दिया। एकता के निमित्त एक शिक्षा पद्धति अत्यन्त आवश्यक है अतः एक शिक्षा पद्धति का प्रतिपादन किया। एकता के प्रतिपादक तथा महान योग दाता होते हुये भी उन्होंने किसी से गलत समझौता नहीं किया। एकता के निमित्त एक धर्म एक समान शिक्षा, समान रहन सहन, समान विचार, एक भाषा, एक संस्कृति तथा एक उपास्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि ने इन सब बातों पर बल दिया है।

१३ —उपसंहार

लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि सब मर जाते हैं, परन्तु वह मर कर भी नहीं मरता है जो देश, धर्म पर बलिदान हो जाते हैं। महर्षि दयानन्द ने न केवल अपने जीवन काल में अपने पवित्र देन से मानव जगत् को उपकृत किया, अपितु आज भी वे सतत अपनी देन से संसार को आलोकित कर रहे हैं। जीवन भर जो नास्तिक और निरीश्वरवादी थे वे भी उनकी अन्तिम यात्रा की घटना का अवलोकन कर महान् आस्तिक और ईश्वर भक्त बन गये। जो पहले संसार के भोग विलास और विषय वासना में रत थे उनको भी महर्षि के पर्यवसान ने झकझोर कर जगा दिया। जीवन पर्यन्त जो अत्यन्त विरोधी रहे उन्हें भी सद्मार्ग पर आनेको विवश होना पड़ा। जो ज्योति उदय काल में कम प्रखरता को धारण कर रही थी अस्त होने के पश्चात् उसकी प्रखरता और प्रचण्ड हो उठी। इसके अतिरिक्त कई अन्य बहुत से क्षेत्र हमसे प्रतिरोधित हो सकते हैं। जिसमें ऋषि की महती देन हो। महर्षि दयानन्द ने जो सार्वभौमि, सार्वजनिक तथा मानव मात्र के लिये ही नहीं प्राणी मात्र के कल्याण के निमित्त जो देन दी है, वह अन्य किसी ने नहीं दिया।

ओ३म्

महर्षि दयानन्द की देन

७

श्री चन्द्रप्रकाश आर्य, एम० ए०

वि० वै० शोध संस्थान—डा० साधु आश्रम, होशिआरपुर (पञ्जाब)

महर्षि दयानन्द को विविध विचारकों ने विभिन्न-विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है, यथा१—एक ईश्वर के उपासक, वेदोद्धारक, वेदवेत्ता, वेद भाष्यकार, भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धारक, आर्य जाति के गौरव और उसके

१—महर्षि दयानन्द सरस्वती के समकालीन एवं पश्चाद्वर्ती मनीषियों ने ऋतुराज बसन्त रूपी महर्षि के विचार, कार्य और प्रभाव को देख कर उनके प्रति जो अपनी श्रद्धाञ्जलियां या विचाराञ्जलियां प्रस्तुत की हैं। वे महर्षि के उपर्युक्त रूपों को हृदयंगम कराने में विशेष स्थान रखती हैं। उन श्रद्धासुमनों में से प्रसंगानुकूल कुछ प्रस्तुत हैं:—

स्वामी दयानन्द महान् संस्कृतज्ञ और वेदज्ञाता थे, उन्होंने केवल एक ज्योतिर्मय निराकार परमेश्वर की आराधना करने की शिक्षा दी।

—सर सय्यद अहमद खाँ

इस बात का श्रेय दयानन्द को ही प्राप्त होगा कि उसने सर्वप्रथम वेदों की व्याख्या के लिये निर्दोष मार्ग का अवलम्बन किया था। ऋषि दयानन्द ने उन द्वारों की कुञ्जी प्राप्त की जो युगों से बन्द थे और उन्होंने दबे हुए झरने का मुख खोल दिया।

—योगी अरविन्द

स्वामी दयानन्द एक विद्वान् थे, उनके धर्म नियमों की नींव ईश्वरकृत वेदों पर थी, उन्हें वेद कण्ठस्थ थे, उनके मन और मस्तिष्क में वेदों ने घर किया हुआ था या, यह कहिये कि वेद उसके हस्तामलक थे।

—मैक्समूलर

जब लोग वेद के आध्यात्मिक अर्थ करने की ओर दृष्टि देते हैं तो सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती का ही स्मरण हो आता है, जिन्होंने वेद का ज्ञानपरक अर्थ करके वेद की पूर्ण महत्ता को पुनः इस संसार में प्रख्यापित किया है।

—पं० गोपाल शास्त्री, सभापति पण्डित सभा, काशी

उन्होंने (स्वामी दयानन्द जी ने) आर्य संस्कृति की रक्षा की, वेदों का पुनरुद्धार और आर्ष शैली से प्रचार किया।

—सरदार वल्लभ भाई पटेल

स्वामी दयानन्द उन पुरुषों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और उसके आचार सम्बन्धी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के कारण हुए।

—नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

बोधक, राष्ट्रवादी, समाज सुधारक, नवजागरण के अग्रदूत, भारतीय स्वाधीनता के प्रथम मूलमन्त्र प्रदाता, राष्ट्रिय एकता की सूत्रमयी हिन्दी के प्रचारक, अछूतोद्धारक, अज्ञान-अन्ध-विश्वास-पाखण्डरूपी तम के निवारक, गोरक्षक, विधवा-अनाथ सहायक, नारी जाति के सम्मानी, तदधिकार-पोषक एवं सत्य और मानवता के पुजारी।

स्वामी दयानन्द ही पहिले व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दुस्थान 'हिन्दुस्थानियों के लिये' का नारा लगाया।

श्रीमती एनी बीसेण्ट

स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम भारत की स्वतन्त्रता का बीजारोपण किया। भारत के स्वातन्त्र्य इतिहास में सर्वप्रथम उनका नाम लिखा जायेगा।

—कैलाशनाथ काटजू, भूतपूर्व गृहमन्त्री, भारत

जब तक और लोग स्वराज्य का स्वप्न ले रहे थे स्वामी दयानन्द और आर्य समाज अपनी पुस्तकों द्वारा उसका प्रचार करने में लगे हुए थे।

—मौलाना हसरत मुहानी

दयानन्द ने अस्पृश्यता वा अछूतपन के अन्याय को सहन नहीं किया और उससे अधिक उनके व्यपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई भी नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया।

महर्षि दयानन्द ने धर्म जागृति बढ़ाई, आर्य संस्कृति का, वेदाभ्यास का, संस्कृत भाषा का, हिन्दी भाषा का प्रेम बढ़ाया। अस्पृश्यता रूपी कलङ्क धोने का प्रयत्न किया।

—महात्मा गान्धी

महान् गुरु दयानन्द को मैं आदर प्रणाम करता हूँ।.... जिसकी घोषणा ने भारत को अविद्या, अन्धकार से मुक्ति दिला कर उसे सत्य और पवित्रता की जागृति दिलाने का शंखनाद किया।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर—ऐ खुदा क्या मंजूर न था हम वाहियात रश्मियात के फन्दे से निजात पाएँ। ऐ खुदा क्या मंजूर न था कि हम आपस के निफाक को दूर करें। हम तुम से दूर हो गये थे, वह (दयानन्द) हमको तुम से मिलाना चाहता था।

—वाजिद अली, मन्त्री अंजुमन इस्लामिया, लाहौर

स्वामी दयानन्द की सब से बड़ी विशेषता उनकी दूरदर्शिता थी। यह देख कर आश्चर्य होता है कि विदेशी शासन के विरोध में सक्रिय संघर्ष के समय जिन बातों पर महात्मा गाँधी ने अधिक बल दिया और उन्हें रचनात्मक कार्य की संज्ञा दी, प्रायः वे सभी काम स्वामी दयानन्द के कार्यक्रम में पचास वर्ष पूर्व शामिल थे। देश भर के लिये एक सामान्य भाषा की आवश्यकता स्वामी दयानन्द ने महसूस की और हिन्दी को ही राष्ट्र अथवा आर्य भाषा होने के योग्य माना।

इसके अतिरिक्त अछूतोद्धार, स्त्री शिक्षा, हाथ के बने कपड़े अथवा स्वदेशी का प्रयोग इत्यादि बातों पर उन्होंने काफी बल दिया और वे स्वयं भी जीवन में इन बातों पर पूर्ण अमल करते रहे।

उनकी कृतियों और उपदेशों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि वे विचारों से राष्ट्रवादी थे और विदेशी शासन स्थान पर स्वराज्य अथवा भारतीयों के ही राज्य का स्वप्न देखते थे। समाज सेवा के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द और आर्य समाज ने जो कार्य किया उसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। उस कार्य के लिये और देश को जो उससे लाभ हुआ, उसके लिये हम सब उनके ऋणी हैं।

—डा० राजेन्द्र प्रसाद

स्वामी दयानन्द भारतीय संस्कृति, स्वतन्त्रता और क्रान्ति के अग्रदूत थे। वे बड़े दृढ़ व्यक्ति थे, उन जैसा क्रान्तिकारी नेता होना विरले ही लोगों का काम होता है। उन्होंने ऐसे समय में देश का नेतृत्व किया, जिस समय बुराईयों की ओर संकेत करना भी कठिन काम था।....स्वामी जी ने देश में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों में जो कार्य किया वह अभूतपूर्व है।

—लालबहादुर शास्त्री

महर्षि दयानन्द के इन समस्त रूपों और कार्यों के पीछे एक अलौकिक दृष्टि, एक विचारधारा, एक कसौटी कार्य करती हुई दिखाई देती है। उसीसे ही इन सब कार्यों को शक्ति, नवजीवन, चेतना, प्रकाश, प्रेरणा और स्वारस्य प्राप्त हुआ था। जिसको हम 'महर्षि दयानन्द की एक देन' कह सकते हैं। इसी प्रकाश-ज्ञान दायिनी विशेष देन के कारण महर्षि दयानन्द सब पथ-प्रदर्शकों से अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं और वह है महर्षि की विचार क्रान्ति, विचार स्वातन्त्र्य या उन्हीं के शब्दों में इसको ऐसे कह सकते हैं :—

"सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना" चाहे वह सत्य किसी का भी क्यों न हो।

संसार के इतिहास में अनेक धर्म संस्थापक या धर्म सुधारक हुए। किसी भी महापुरुष, धर्माचार्य, गुरु की विचार पद्धति में इतने स्पष्ट शब्दों में ऐसी उल्लेखनीय विचार स्वतन्त्रता और उदारता का परिचय प्राप्त नहीं होता। आज के बौद्धिक स्वतन्त्रता के युग में महात्मा गौतम बुद्ध को विशेष विचार क्रान्ति का मन्त्र प्रदाता माना जाता है। यह मान्यता बहुत अंशों में सत्य भी है, परन्तु वहाँ भी इतने स्पष्ट शब्दों में महर्षि जैसी विचार स्वातन्त्र्य भावना दिखाई नहीं देती।

आज सर्वत्र समन्वय की प्रशंसा की जाती है कि वह एकमात्र सर्वविध भेद-भावों से उत्पन्न सब रोगों का उपचार है और राष्ट्र समाज को संगठित कर सब के सुख, प्रेम का आधार है। परन्तु समन्वयवाद का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक बार विभिन्न महापुरुषों ने विविध वर्गों में समन्वय कराने का सराहनीय प्रयास किया, किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् एक पक्ष या वर्ग के स्वार्थ ने वह सारा बना-बनाया आशाओं का महल धूलिसात् कर दिया। समन्वय में प्रायः सत्य और न्याय की उपेक्षा कर एक पक्ष को तिरोहित कर दिया जाता है, जिसके कारण वह चिरस्थायी नहीं होता है। अतः वह आरम्भ में रमणीय और परिणाम में टेसू पुष्पवत् सिद्ध होता है और समन्वय प्रायः सबको खुश करने के लिये किया जाता है।

महर्षि ने अपनी प्रचार-यात्रा के पूर्वार्ध में दिल्ली दरबार के अवसर पर धार्मिक समन्वय का प्रयास किया था, परन्तु अन्त में इस परिणाम पर पहुँचे कि समन्वय केवल ऊपर से रमणीय और कुछ दिनों का अतिथि या भानमती (भानमति) का पिटारा ही होता है। अतः महर्षि ने हर क्षेत्र में हर प्रकार से समन्वय की अपेक्षा एकमात्र सत्य का पूर्ण समर्थन किया।

सत्य तो यह है कि गुणग्राहिता, निष्पक्षपात वृत्ति, उदारता, सत्यानुरागिता, निःस्वार्थता और सहिष्णुता के अभाव में समन्वय का सफल होना सर्वथा दुष्कर है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि भारत में चतुर्थ महानिर्वाचनों के बाद एकांगी भावनावश अनेक प्रान्तों में संयुक्त मन्त्रिमण्डल बने। उनमें से बंगाल, बिहार, हरियाणा और पञ्जाब में विफल हो चुके हैं तथा उत्तर प्रदेश में अन्तिम साँस ले रहा है। हाँ, महर्षि एकमात्र सत्य और न्याय पर आधारित समन्वय के पक्षपाती थे। इसी दृष्टिकोण को ही सत्यार्थप्रकाश की भूमिका और एकादश समुल्लास में सब धर्मों की सभा के विवेचन में प्रस्तुत किया है।

यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में हैं, वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे के विरुद्ध बातें उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से बर्तें बर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित हो। भूमिका—

मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने-कराने के लिए है न कि वाद-विवाद विरोध करने-कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या, द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण

और असत्य का त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिये यह बातें असाध्य नहीं है। अनुभूमिका (१)

जिस बात में ये सहस्र एकमत हों, वह वेद मत ग्राह्य है१ और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है।

जिज्ञासु—इसकी परीक्षा कैसे हो?

आप्त – तू जा कर इन इन बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति हो जायगी। तब वह उन सहस्रों की मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि सुनों सब लोगों! सत्य भाषण में धर्म है वा मिथ्या में? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने में, ब्रह्मचर्य करने में, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, आलस्य, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में [अधर्म], सबने एक मत हो के कहा कि विद्यादि के ग्रहण

१—इस वाक्य को पढ़कर मन में बारम्बार एक शङ्का उठती है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्याग का अमर घोष करने वाला वेदों का इतना अधिक प्रबल पोषक क्यों है? तथा कुछ विचारकों ने महर्षि दयानन्द और आर्य समाज की इस दृष्टि से विशेष आलोचना भी की है, उनकी दृष्टि में ये दोनों अन्य मतावलम्बियों की तरह वेद के अन्ध श्रद्धालु मात्र ही हैं तथा उनके लिये स्थान-स्थान पर आदर सहित इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है, यथा—वेदोक्त सब बातें विद्या के अविरुद्ध हैं, वेद विद्या विहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है, जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है जिसमें असत्य कुछ भी नहीं तो उनका ग्रहण करने में शङ्का करनी अपनी और पराई हानिमात्र कर लेनी है। भला वेदादि सत्य शास्त्रों को माने बिना तुम अपने वचनों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा और आर्य्यावर्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो? मनुष्यों में सत्यासत्य का यथावत् निर्णय करने वाली वेद विद्या, बिना कारण विद्या वेदों के अन्य कार्य विद्याओं की प्रवृत्ति मानना सर्वथा असम्भव है। निःसन्देह सर्वशङ्का निवारक वेद मत, वेदोक्त सत्यमत, वेदादि सत्यशास्त्र, वेद तो सब विद्याओं का भण्डार है, वेदों में (जैसा) कहा है उसीको मानो तभी तुम्हारा कल्याण होगा अन्यथा नहीं, सत्य तो वेदों के स्वीकार में गृहीत होता ही है आदि। शेष अग्रे —

इन शब्दों को सामान्य दृष्टि से देखने पर मन में बारम्बार एक विचार आता है कि क्या महर्षि दयानन्द के ये शब्द आग्रह युक्त सम्प्रदायवादियों के शब्दों के सदृश नहीं हैं। परन्तु जब महर्षि के समग्र दृष्टिकोण को समझते हैं तो शंका का समाधान हो जाता है कि महर्षि वेदों को सर्वज्ञ ईश्वर की कृति मानते थे, तभी तो लिखते हैं कि "सर्वज्ञ परमात्मा के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिये।" महर्षि ने सत्य विद्या के प्रतिपादक होने से ही वेदों को इतनी मान्यता दी। इस दृष्टि से सत्यार्थप्रकाश का एक विवेचन सर्वथा पाठनीय और माननीय है। प्रश्न—वेद ईश्वर कृत है अन्य कृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण है? उत्तर—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुण कर्म स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है वैसा जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकुल कथन हो वह ईश्वर कृत अन्य नहीं, और जिसमें सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरूद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निभ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टि क्रम रक्खा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टि-कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है और प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरूद्ध शुद्धात्म के स्वभाव के विरुद्ध न हो, (इस प्रकार वेद हैं) सप्तम समुल्लास॥ उपर्युक्त कसौटी के अनुरूप होने और शंका पक्ष में उद्धृत वचनों से भी यह सिद्ध होता है कि (विद्या, विज्ञान, अविरूद्ध, सत्ययुक्त होने से ही वेद) महर्षि को सर्वथा मान्य एवं प्राणों सम प्रिय थे।

में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। एकादश समुल्लास सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं, और मानेंगे भी इसीलिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके, यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान नहीं करते। किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपात रहित विद्वान मानते हैं वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश।

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि किस प्रकार के समन्वय के पक्षपाती थे। आज प्रायः समन्वय के पक्ष में अविचार रमणीय युक्तियाँ देते हुये कहा जाता है कि दूसरों की बुराइयों को न देखते हुये तथा उनकी निन्दा या खन्डन न कर सब मतों में से अपनी बुद्धि के अनुसार सत्य को ग्रहण कर लेना चाहिये। इस दृष्टि को सामने रख कर ब्रह्म समाज के विषय में किया गया विवेचन सर्वथा पाठनीय है।

प्रश्न—हम कोई पुस्तक ईश्वर प्रणीत वा सर्वांश में सत्य नहीं मानते क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि निर्भ्रान्त नहीं होती, इससे उनके बनाये ग्रन्थ सब भ्रान्त होते हैं। इसलिये हम सब से सत्य ग्रहण करते और असत्य को छोड़ देते हैं। चाहे वह सत्य वेद में, बाइबिल में वा कुरान में और अन्य किसी ग्रन्थ में हो हम को ग्राह्य है, असत्य किसी का नहीं।

उत्तर—जिस बात से तुम सत्याग्रही होना चाहते हो उसी बात से असत्याग्रही भी ठहरते हो क्योंकि जब सब मनुष्य भ्रान्तिरहित नहीं हो सकते तो तुम भी मनुष्य होने से भ्रान्ति सहित हो। जब भ्रान्ति सहित के वचन सर्वांश में प्रमाणिक नहीं होते तो तुम्हारे वचन का भी विश्वास नहीं होगा। फिर तुम्हारे वचन पर भी सर्वथा विश्वास न करना चाहिये। जब ऐसा है तो विषयुक्त अन्न के समान त्याग के योग्य है।.........तुम सर्वज्ञ नहीं जैसे कि अन्य मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है। कदाचित् भ्रम से असत्य को ग्रहण कर सत्य को छोड़ भी देते होंगे। इसलिये सर्वज्ञ परमात्मा के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिये। जब सब सत्य वेदों से प्राप्त होता है, जिसमें असत्य कुछ भी नहीं तो उनका ग्रहण करने में शंका करनी अपनी और पराई हानिमात्र कर लेनी है, इसी बात से तुमको आर्य्यावर्त्तीय लोग अपना नहीं समझते और तुम आर्य्यावर्त्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके, क्योंकि तुम सब घर के भिक्षुक ठहरे हो। तुम ने समझा है कि इस बात से हम लोग अपना और पराया उपकार कर सकेंगे सो न कर सकोगे। जैसे किसी के दो ही माता पिता सब संसार के लड़कों का पालन करने लगें सबका पालना करना तो असम्भव है किन्तु उस बात से अपने लड़कों को भी नष्ट कर बैठें। वैसे ही आप लोगों की गति है। भला वेदादि सत्य शास्त्रों को माने बिना तुम अपने वचनों की सत्यता और असत्यता की परीक्षा और आर्य्यावर्त्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो? एकादश समुल्लास

समन्वय के अभिलाषियों को महर्षि के ये शब्द सर्वदा स्मरण रखने चाहिए "जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सब में एक से हैं, झगड़ा झूठे विषयों में होता है" अनुभूमिका (३) अतः समन्वय, प्रेम, सुख, और शान्ति का आधार महर्षि की दृष्टि में एक मात्र सत्य ही है। इसीलिये सदा महर्षि ने सत्य का समर्थन और प्रतिपादन किया और किसी भी परिस्थिति में झूठ का समर्थन या उसके साथ समझौता नहीं किया। महर्षि के इस सिद्धान्त और समीक्षण में भी वही अलौकिक दृष्टि ही कार्य करती हुई दिखाई देती है।

इस "सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग" की दिव्य देन से अनुप्रेरित होकर महर्षि ने अपने अमर ग्रन्थ का नाम "सत्यार्थप्रकाश" रखा जो कि वस्तुतः ही सत्य का प्रकाश है, जिसमें जिस भी विषय पर लेखनी उठाई, उसके सम्बन्ध में

तुलनात्मक सापेक्ष अध्ययन सहित तथ्यपूर्ण (१) और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

इसके निर्माण के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए भूमिका में लिखा है— मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्यका प्रकाश किया जाए। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य (२) कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है इस लिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान् आप्तों का भी यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर द, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थका परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

इस ग्रन्थ में जो कहीं कहीं भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा। हाँ जो वह मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा। यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य है उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे।...ऐसी बातों को चित्त में धर के मैंने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देख के इस ग्रन्थ का सत्य सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें। इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो भी सब मतों में सत्य सत्य

१—सत्यार्थप्रकाश में वस्तुतः वैदिक आदर्श की स्थापना करने वाली ऐसी जीवनचर्या है, जिसे अपने जीवन की उन्नति चाहने वाला हर व्यक्ति सहज में अपना सकता है। महर्षि ने व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति का ऐसा कोई भी पहलू नहीं छोड़ा जिस पर उसमें प्रकाश नहीं डाला गया। ... मनुष्य, समाज और राष्ट्र के जीवन का उसमें वह नक्शा खींच दिया है। जिसको सामने रख कर अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का सम्पादन किया जा सकता है। "राष्ट्रवादी दयानन्द, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार"

सत्यार्थ प्रकाश की उपयोगिता का मूल्यांकन इस बात से भी किया जा सकता है कि महर्षि ने पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न के प्रश्नों का उत्तर देते हुये "भ्रान्ति निवारण" में प्रसंगवश लिखा है "मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ" इससे सरलता पूर्वक यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रामाण्याप्रमाण्य समीक्षा के लिये कितने सहस्र ग्रन्थ पढ़े होंगे।

२—महर्षि की दृष्टि में सत्य की परिभाषा—सत्य जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना, अर्थात् जैसा आत्मा में वैसा मन में, जसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में बर्तना सत्य है। प्रथम समुल्लास।

बातें हैं वे वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार जो जो मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि अब मत-मतान्तरों की गुप्त व प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान् अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ होवें।

यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी बर्तता हूँ, जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में बर्त्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी बर्त्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसा आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।

अब आर्यावर्त्तियों के विषय में विशेष कर ११ ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है। इन समुल्लासों में जो कि सत्यमत प्रकाशित किया वेदोक्त होने से मुझको सर्वथा मन्तव्य है।

बहुत से हठी दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि वक्ता के अभिप्राय विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मतवाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँस के नष्ट हो जाती है। इसलिये जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रंथ, बायबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमें से गुणों का ग्रहण करता हूँ, वैसा सब को करना योग्य है। इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें। क्योंकि एक मनुष्य जाति में बहका कर, विरुद्ध कराके, एक दूसरे के शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है। और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयों का मुख्य कर्तव्य काम है। सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे। भूमिका है।

विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं वे ही गुण ग्राहक पुरुष विद्वान होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं। दशम समुल्लास ॥

पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा। मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्याय दृष्टि से वर्त्तना अति उचित है। मनुष्य जन्म का होना सत्यसत्य के निर्णय करने कराने के लिये है, न कि वाद-विवाद विरोध करने कराने के लिये। इसी मत-मतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपात रहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना करना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। अनुभूमिका (१)

इस बारहवें (१२) समुल्लास में जो-जो जैनियों के मत के विषय में लिखा गया है सो-सो उनके ग्रन्थों के पते पूर्वक लिखा है इसमें जैनियों जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिये क्योंकि जो-जो हमने इनके मत विषय में लिखा है वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ। इस लेख को जब जैनी बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्यासत्य के निर्णय में विचार और लेख

करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा जब तक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा-अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य कर्तव्य है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो। अनुभूमिका (२)।

यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये न किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ। इससे यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्म विषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्याऽसत्य मत का और कर्तव्य कर्म सम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्तव्य कर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा। जो कोई पक्षपात रूप मानारूढ़ हो के देखते हैं, उनको न अपने और न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं। मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है जितना अपना पठित वा श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वाले के विषयों को मानें और अन्य न मानें तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता।

जो सर्वमान्य सत्य विषय है, वे तो सबमें एक से हैं. झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और दूसरा झूठा हो तो भी कुछ थोड़ा विवाद चलता है। यदि वादी प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिये वाद प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाय। अनुभूमिका (३)

जो कुरान अर्बी भाषा में है उसपर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य भाषान्तर कराके पश्चात् अर्बी के बड़े-बड़े विद्वानों से शुद्ध करवा के लिखा गया है, यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं है तो उनको उचित है कि खण्डन करे पश्चात् इस विषय पर लिखे क्योंकि लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिये सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो-जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सब को विदित होवे न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ दुराग्रह न्यून करे करावें क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुये और न होते हैं। सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षण भंगुर जीवन में पराई हानि कर के लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्यों को रखना मनुष्यपन से बहिः है। इसमें कुछ विरुद्ध लिखा गया हो उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायगा क्योंकि यह लेख हठ दुराग्रह ईर्ष्या द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया है न कि इन को बढ़ाने का अर्थ क्योंकि एक दूसरे की हानि करने से पृथक रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है। ...विचार कर इष्ट का ग्रहण अनिष्ट का परित्याग किजिये। अनुभूमिका (४)

जो कुछ इसमें थोड़ा सा सत्य है वह वेदादि विद्या पुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझको ग्राह्य है वैसे अन्य भी मजहब के हठ और पक्षपात रहित विद्वानों और बुद्धिमानों को ग्राह्य है।....परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि से सब से प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मत मतान्तरों का दोष पक्षपात रहित होकर प्रकाशित करता हूँ, इसी प्रकार

यदि सब विद्वान लोग करें तो क्या कठिनता है कि परस्पर विरोध छूट मेल होकर आनन्द में एक मत हो सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो। यह थोड़ा सा कुरान के विषय में लिखा, इसको बुद्धिमान धार्मिक लोग ग्रन्थकारके अभिप्राय को समझ लेवें। यदि कभी भ्रम से अन्यथा लिखा गया हो तो उसको शुद्ध कर लेवें। चतुर्दश समुल्लास

मैं अपना मन्तव्य उसीको जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है, यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो जो आर्य्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्म युक्त चाल चलन है उनका स्वीकार और धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।४।
न हि सत्यात् परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
न हि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्॥५॥

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सब को निश्चय रखना योग्य है।

जो जो बात सबके सामने माननीय है उनको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं, और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतवालों में अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतीयुक्त कराके सब से सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।

इन विस्तृत उद्धरणों को देखने से यह प्रतीत होता है कि भूमिका, अनुभूमिकाओं और सम्पूर्ण ग्रन्थ में एक ही विचार धारा, एक अलौकिक दृष्टि कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है। अतएव स्वमन्तव्यामन्तव्य और भूमिका की अन्तिम पंक्तियों में लिखा है – "सर्व सत्य का प्रचार कर... मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।" "परमात्मा इस आशय को विस्तृत और चिर स्थायी करे।" इसी से ही प्रभावित और प्रेरित होकर इस ग्रन्थ का सृजन किया। इसी अलौकिक दृष्टि, क्रांतिकारी विचारधारा से अनुप्राणित होकर महर्षि ने जिस भी विषय पर लेखनी उठाई वहाँ सर्वत्र तत् तत् विषय सम्बन्धि असत्य-पक्ष का त्याग कर सत्यपक्ष का प्रबल समर्थन किया। इसका साक्षी सत्यार्थ प्रकाश का एक एक शब्द है।

महर्षि दयानन्द ने विविध मतमतान्तरों की मान्यताओं के सम्बन्ध में तुलनात्मक सापेक्ष अध्ययन पूर्वक समालोचना की। इस खण्डन-मण्डनमयी समालोचना में भी अपनी इस अलौकिक दृष्टि को अपने पराये के भेदभाव से ओझल नहीं किया, अपितु निष्पक्षपातपूर्वक सत्य असत्य के निर्णय के लिये दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला, तथा विविध वर्गों के सत्य और गुणों की मुक्त कण्ठ से प्रसंसा की। इस दृष्टि से कुछ उद्धरण विशेष दर्शनीय हैं—

प्रश्न—ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज तो अच्छा है वा नहीं ?

उत्तर—कुछ कुछ बातें अच्छी और बहुत सी बुरी हैं।

प्रश्न—ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज सबसे अच्छा है क्योंकि इसके नियम बहुत अच्छे हैं।

उत्तर—नियम सर्वांश में अच्छे नहीं क्योंकि वेदविद्या विहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्यों कर हो सकती है ? जो कुछ ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाया और कुछ कुछ पाषाणादि मूर्ति पूजा को हटाया अन्य जाल ग्रथों के फन्दे से भी कुछ बचाये इत्यादि अच्छी बातें हैं।

जो यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़का लड़की को विद्या सुशिक्षा करना कराना, स्वयंवर विवाह होना बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता वे विद्वान होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फंसते जो कुछ करते हैं, वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं, अपनी स्वजाति की उन्नति के लिये तन मन धन व्यय करते हैं, आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं। देखो! अपने देश के बने हुये जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं इस देशी जूते को नहीं। इतने से ही समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक यह लोग मोटे कपड़े आदि पहिनते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे परन्तु अपने देश का चाल चलन नहीं छोड़ा...और जो जिस काम पर रहता है उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देश वालों को व्यापार आदि में सहाय देते हैं. इत्यादि गुणों और अच्छे अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है।

नानक जी का आशय तो अच्छा था। हाँ भाषा उस देश की जो कि ग्रामों की है उसे जानते थे।...यह सच है कि जिस समय नानक जी पंजाब में हुए थे उस समय पंजाब संस्कृत विद्या से सर्वथा रहित मुसलमानों से पीड़ित था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया। नानक जी ने कुछ भक्ति विशेष ईश्वर की लिखी थी उसे करते आते तो अच्छा।

इनमें गोविन्द सिंहजी शूरवीर हुए जो मुसलमानों ने उनके पुरुषाओं को बहुत सा दुःख दिया था उनसे वैर लेना चाहते थे।... इनके पञ्च मकार युद्ध के उपयोगी थे।...इसी लिये यह रीति गोविन्द सिंहजी ने अपनी बुद्धिमता से उस के लिये की थी।

इन सबने भोजन का बखेड़ा बहुत सा हटा दिया है जैसे इसको हटाना वैसे विषयासक्ति दुरभिमान को भी हटा कर वेद मत की उन्नति करें तो बहुत अच्छी बात है। एकादश समुल्लास।

जो जैनियों में उत्तम जन हैं उनसे सत्सङ्गादि करने में भी कोई दोष नहीं। जल छान के पीना और सूक्ष्म जीवों पर नाम मात्र दया करना, रात्रि को भोजन न करना ये तीन बातें अच्छी हैं। द्वादश समुल्लास।

इस पुस्तक में थोड़ी सी बात सत्य। आज कल बिशप पादरी आदि श्रेष्ठ। त्रयोदश समुल्लास।

यह बात तो अच्छी है। जो कुछ इसमें थोड़ा सा सत्य है वह वेदादि विद्या पुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझको ग्राह्य है वैसे अन्य भी मज़हब के हठ और पक्षपात रहित विद्वानों और बुद्धिमानों को भी ग्राह्य है। चतुर्दश स०।

आज तक के विज्ञान और वैज्ञानिकों के इतिहास की एक ही शिक्षा है कि परीक्षणों के आधार पर जो सत्य या तथ्य सिद्ध हो उसको सहर्ष स्वीकार कर पूर्वाग्रह को तिलाञ्जलि दे दी जाय अर्थात् परीक्षणों से निर्णीत तथ्य का प्रकाशन ही विज्ञान [वि=विशेष, निश्चित, तथ्यपूर्ण, अनुसन्धान सिद्ध ज्ञान] है तथा उसका ग्रहण करना ही विज्ञान के प्रति श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा और प्रीति का परिचय देना है। विज्ञान और अनुसन्धान में (१) व्यवस्था, सुसम्बद्धता, तथ्यपूर्णता, मौलिकता और दुराग्रह शून्यता आदि गुण होते हैं।

---

१ भौतिक क्षेत्र में जो विज्ञान का महत्त्व है, वही साहित्यिक क्षेत्र में अनुसन्धान का है, पद्धति की समानता से दोनों शब्द पर्यायवाची भी प्रतीत होते हैं। वैज्ञानिक कार्य चार गुणों का होना आवश्यक है। १—व्यवस्था और सुसम्बद्धता। २—पर्यवेक्षण और प्रयोगों के आधार पर हो, केवल कल्पना का विस्तार न हो अर्थात् मौलिक चिन्तन हो। ३ शोध प्रबन्ध और विज्ञान में सत्य का वस्तु निष्ठ रूप से होना चाहिये न कि व्यक्ति निष्ठ। वस्तु के स्वरूप या तथ्यों को ही प्रमुखता दी जाये। ४—विज्ञान का कार्य है, तत्कालिक तथ्यों और सामग्री के आधार पर तत्कालिक अन्तिम निर्णय (सत्य) प्रकाशित कर देना। उसमें हठात्मक आग्रह न हो। कुछ वैज्ञानिक तथ्य केवल तात्कालिक होते हैं और कुछ सार्वकालिक।

महर्षि के समग्र कार्य कलाप में यही वैज्ञानिक पद्धति कार्य करती हुई, हमें अपनी ओर आकर्षित करती है, इसी लिये ही उनके विचारों में अपूर्व सजीवता, नवीनता, उत्साह और यथार्थ्य अनुभव होता है।

भारत के मध्यकालीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" और न्याय दर्शन की तार्किक पद्धति को रखने वाली भारतीय जनता प्रत्येक गुरु के वचन को सत्य वचन महाराज !

वह अनेक परम्परागत तात्कालिक पद्धतियों, की झञ्झा-वत में भटक विदिशा में बही जा रही थी। इसी का ही तो परिणाम था कि गर्भस्थ या दो चार वर्ष के बच्चों का विवाह बन्धन में बान्धकर पुरोहित जहाँ बाल विवाह की प्रथा को "अष्ट वर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥ माता चैव पिता तस्य ज्येष्ठो भ्राता तथैवच। त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥ इत्यादि प्रमाणों से शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने में अहर्निश प्रयत्नशील थे।

—पाराशरी

वहाँ दूसरी ओर वृद्ध विवाहों के परिणाम स्वरूप आए दिन चढ़ती जवानियों की बढ़ती हुई विधवा प्रथा तथा विधवाओं के प्रति किया जाने वाला सती प्रथादि धार्मिक और सामाजिक दुर्व्यवहार मानवता का कलंक बन कर धर्म को अधर्म घोषित करने में तत्पर था। अक्षत योनि और अभिलाषिणी विधवाओं को शास्त्र के नाम पर पुनर्विवाह की अनुमति न देने से काला पहाड़ की घटनायें समाज की प्रगति में पहाड़ बन कर खड़ी हो गई थीं या आन्तरिक भ्रष्टाचार, अनाचार का मार्ग निकाल कर भ्रूणहत्या और अनाथों की समस्या को समुपस्थित कर रही थी।

मातृ देवो भव, मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद, स्त्री ब्रह्माबभूविथ तथा यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया ॥ मनु० ३, ५६ अर्थात् जहाँ नारी की पूजा, मान, सत्कार होता है, वहीं दिव्य आत्माओं का वास या निर्माण होता है, अन्यथा सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं इत्यादि भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल भावनाओं से भरा हुआ भारतीय समाज "स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्" या "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी" की हवा से प्रभावित हो नारी शिक्षा के द्वार आवृत कर उसको मातृ शक्ति के मान, मर्यादा और यज्ञ, सन्ध्या, वेदाध्ययनादि धार्मिक, सामाजिक अधिकारों से वंचित कर उसको केवल भोग विलास की सामग्री, पाकशाला की अधिष्ठात्री, बच्चों की जननी और सेविका एवं पैरों की जूती बना दुर्व्यवहार की बलिवेदी पर चढ़ा रहा था।

गुण कर्म मूलक वर्ण व्यवस्था को शास्त्र सम्मत जन्म मूलक मान धर्मध्वजी प्रभावित भारतीय समाज ब्राह्मण-अब्राह्मणजन्य ऊँच-नीच के भावों से प्रभावित होकर जहाँ फूट के रोग और फल का शिकार हो रहा था वहाँ अपनी ही सेवा करने वाले व्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से अस्पृश्य बना, सामाजिक सुविधाओं और अधिकारों से उनको दूर कर रहा था। इसके परिणाम स्वरूप वे सामाजिक कुएँ, नदियों, सड़कों और धार्मिक स्थानों और वस्तुओं के उपयोग से वंचित कर मनुष्य होते हुए भी पशुओं से बदतर जीवन व्यतीत करने के लिये विवश कर दिए गए थे, शिक्षा, सामाजिकता और प्रगति के अवसर की बात तो दूर रही। आश्चर्य तो यह है कि भारतीय स्मृतिशास्त्रों के प्रायश्चित्ताध्याय में विविध पापों और स्थितियों के निवारणार्थ अनेक प्रायश्चितों का विधान किया गया है, परन्तु उनमें भी अस्पृश्य समझे जाने वालों और किसी कारण विशेष से विधर्मियों के सम्पर्क में आ जाने वालों के लिये किसी प्रायश्चित का विधान नहीं है।

इस दृश्यादृश्य जगत् के निर्माता, पालक, व्यवस्थापक परमेश्वर का स्वरूप जहाँ जितने मुँह उतनी बातों के अनुसार बुद्धि तर्कशून्य, परस्पर विरोध और आश्चर्य जनक माना जा रहा था वहाँ उसके स्थान पर विष्णु, शंकर, गणेश, शिव, ब्रह्मा

सरस्वती, काली, दुर्गा आदि विविध देवी देवताओं की पृथक् पृथक् कल्पित प्रतिमाओं की विभिन्न विभिन्न मन्दिरों में प्राण प्रतिष्ठा की जा रही थी, तथा तत्सिद्धि के लिये वेदों को बहु देवतावाद का प्रतिपादक मान वेदादि के विविध मन्त्रों का तद् तद् देवता और नवग्रहों के पूजन में विनियोग कर धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प पत्रादि से अर्चन, पूजन होता था। यहीं तक ही नहीं अपितु सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, सर्वज्ञ प्रभु के स्थान पर विविध वृक्षों, पशु-पक्षी-सर्पादि जन्तुओं और पाषण रूप मढ़ी, मसान एवं कबरादि की पूजा प्रचलित थी और उनकी प्रसन्नता से अभिष्ट सिद्धि के लिये अनेक मूक प्राणियों की बलि के साथ मानव बलि से भी परहेज नहीं किया जाता था। जिसका शिकार होते होते स्वयं महर्षि एक बार मन्दिर की चार दिवारी फान्द और सारा दिन मीलों भाग कर बचे थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों के वर्णनानुसार एवं आधार पर एक विशेष स्वर्गलोक की विचित्र, तर्क-बुद्धि विपरीत, असंगत कल्पना कर, उसकी प्राप्ति के लिये याज्ञिक शास्त्रों में वर्णित कर विविध यज्ञों का विस्तृत, जटिल विधि-विधान प्रतिपादित किया गया था। ये यज्ञ कामधेनु, स्वर्ग-प्रापक और हविमुक् देवता के प्रसादक माने जाते थे। इन ऊध्वर नामधारी यज्ञों में गो-अश्व-पुरुषमेध नाम को लेकर बलि के कार्य को वैदिक शास्त्र प्रतिपादित सिद्ध करना एक गौरव की बात थी, तथा सम्मोहन, मारण, उच्चाटन आदि उपचार और जादू टोने की प्रक्रियाएँ यज्ञों में अपना महत्व-पूर्ण स्थान बना चुकी थी। गृह्य सूत्र प्रोक्त विविध पर्व और संस्कार तान्त्रिक एवं वाममार्गियों के प्रभाव से प्रभावित हो, एकता, सामाजिकता, पवित्रता, शोधकता के साधन न बन केवल रूढ़ि का स्थान ले बैठे थे।

भारतीय संस्कृति की पवित्र धरोहर, साहित्य के मूलस्रोत ज्ञानियों के परम चक्षु, आर्यों के प्राण रुप आदि विद्या निधान वेद दर्शनों से ही लुप्त होते जा रहे थे, और उनके मन्त्रों का प्रयोजन केवल विविध देवताओं का स्तवन, आवाहन, आशीर्वाचन तथा याज्ञिक विनियोग ही रह गया था। किसी की दृष्टि में संस्कृत का प्रत्येक शब्द वेद था तो कहीं "मन्त्र ब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्" की मान्यता बलवती थी तथा वेदत्रयी का स्थान हर प्रकार से प्रस्थानत्रयी ले चुकी थी। कोई वेदों को केवल यज्ञीय कर्मकाण्ड के ग्रन्थ मानता था, तो कोई देवी देवताओं की स्तुति-प्रार्थना मन्त्रों का संग्रह कहता था, किसी की दृष्टि में सांसारिक ज्ञान से अस्पृक् आलौकिक ज्ञान-विज्ञान बोधक या गडरियों के गीत थे। तथा ये ऐतिहासिक अर्ध ऐतिहासिक, याज्ञिक पद्धतियों के आधार पर मन माने अर्थ कर अनुपयोगी बना दिए गये थे।

जब सारे धर्म धारणात् की भावना को छोड़ नैतिकता से अस्पृक् हो सम्प्रदाय बन, उसके एक अर्थ परम्परा को चरितार्थ करते हुए लकीर के फकीर होकर हर संस्कृति और गुरु प्रोक्त शब्द को सत्य वचन मान बिना विचारे करने में श्रेय समझते थे। तब सत्यानुरागी, सत्य पथ के पथिक महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋषिप्रज्ञा से सारी स्थिति का तत्त्व दर्शन कर विज्ञान और बुद्धि संगत क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। अपनी अलौकिक उद्घोषणा के अनुरूप नीर क्षीर विवेक करते हुए कहा कि युवावस्था में स्वस्थ युवक और युवति का गुण कर्मानुसार परस्पर की सहमति, वार्तालाप और साक्षात्कार के पश्चात् स्वयंवर विवाह होना चाहिये। महर्षि ने स्वयंवर विवाह की जिस युक्तियुक्त, सरल, प्रभावकारी पद्धति (१) का समर्थन किया है, वह देखते ही बनता है। क्या ही अच्छा हो आज का प्रगतिशील समाज उस ओर ध्यान दे।

१ लड़का के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या है माता पिता का नहीं। जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है।

जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के अधीन विवाह होने लगा

बच्चे विवाह-उद्देश्य की पूर्ति के अयोग्य हैं, बच्चों का विवाह करना पनपते अंकुरों को मसलना एवं सामाजिक प्रगति के विनाश को निमन्त्रण देना है। वृद्ध विवाह का भी यही परिणाम है, तथा इस सामाजिकी दुर्व्यवहार की बलि बनी हुई विधवाओं को हठात् आजीवन वैधव्याग्नि में जलाना आन्तरिक कुरीतियों, दुराचारों को बढ़ावा देना है और अपने समाज की जड़ों को खोखला करना होगा। अतः अक्षत योनि विधवाओं का पुनर्विवाह कर देना चाहिये तथा क्षतयोनि यदि वंश, कुल की रक्षा के लिये संयम का पालन कर सकें तो बहुत अच्छा है अन्यथा नियोग नियम अपनाना चाहिये।

प्रत्येक की प्रगति का मूल कारण शिक्षा है, अतः समाज या जाति नियम हो कि प्रत्येक बालक, बालिका को अनिवार्य शिक्षा दी जाय। जब तक माता शिक्षित न होगी तब तक सन्तानों का पूर्ण विकास दुष्कर और असम्भव है। अतः पुरुषों की अपेक्षा नारी शिक्षा को प्रमुख स्थान देना चाहिये। वेदाध्ययन, यज्ञ, संस्कार, सन्ध्या आदि धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्यों में नारी का पूर्ण अधिकार है। अतः उसको सम्मान समानता का अवसर मिलना चाहिए।

सब मानव मानवता के नाते सामाजिक समानता और सम्मान के अधिकारी हैं। वर्णव्यवस्था गुण कर्मणा ही स्वीकार्य है, यह जन्ममूलक वर्णव्यवस्था भारतीयों के लिये एक महान् कलंक है तथा वर्ण व्यवस्था नहीं मरण व्यवस्था है। यह जन्ममूलक वर्णव्यवस्था वेदादि शास्त्र विरुद्ध और केवल मिथ्या अभिमान, दम्भ एवं पाखण्ड की जननी है। कोई भी मानव जन्म की दृष्टि से अस्पृश्य कहलाने के योग्य नहीं तथा अपनी सेवा करने वाले व्यक्तियों को जीवन की सब सुविधाएं पारिवारिक या सामाजिक सदस्य के रूप में देनी चाहिए। ऋषि की दृष्टि में जिसको पढ़ाने-लिखाने और सिखाने के बाद भी कुछ न आए वह निर्बुद्धि और मूर्ख ही केवल शूद्र कहलाने का अधिकारी है।

इस संसार को बनाने वाला, पालक और नियामक एक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, ईश्वर ही है। जिसके गुण, कर्म और स्वभाव के कारण विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, रुद्र, शिवादि अनेक नाम हैं, केवल उसी की ही भक्ति, पूजा, उपासना करनी चाहिए। उसके स्थान पर अन्य देवी-देवताओं, जन्तुओं और पदार्थों की कल्पना तथा अर्चना सर्वथा अवैदिक, तर्क-बुद्धि विरुद्ध होने से अनुचित है।१ ऐसा करना वस्तुतः ईश्वर में

तब से क्रमशः आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। अध्यापक जिस जिस के साथ जिस जिस का विवाह होना योग्य समझें उस उस का पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब (फोटोग्राफ) और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना। जब दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहाँ नहीं तो कन्या के माता पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता पितादि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें।

१— चेतन स्वरूप परमात्मा की उपासना को छोड़कर किसी जड़ की उपासना कभी न करे, क्योंकि उपासना अर्थात् सेवा किया हुआ पदार्थ हानि-लाभकारक और रक्षा करने हारा नहीं होता। इससे चित्तवान् समस्त जीवों को चेतन स्वरूप जगदीश्वर की उपासना करनी योग्य है, अन्य जड़ादि गुण युक्त पदार्थ उपास्य नहीं।

हे मनुष्यो! जिस चेतन स्वरूप जगदीश्वर ने समस्त संसार को उत्पन्न किया है उसकी आराधना उपासना से सत्य विद्यायुक्त उत्तम बुद्धि को तुम लोग प्राप्त हो सकते हो, किन्तु इतर जड़ पदार्थ की आराधना से नहीं।

अविश्वास प्रकट करना है। ईश्वरका शुद्ध सत्य स्वरूप वेदादि शास्त्रों के आधार पर आर्य समाज के द्वितीय नियम में दर्शाया गया है, जो पूर्ण तर्क और बुद्धि संगत है।

अग्निहोत्र का मुख्य प्रयोजन जलवायु की शुद्धि है, जिनके शुद्ध होने से मानवों के शरीरों का समुचित विकास हो सकता है। जैसा कि महर्षि ने लिखा है—"अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्य का होना उनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है।

मनुष्यों को इस प्रकार का यज्ञ करना चाहिये कि जिससे पूर्ण लक्ष्मी, सकल आयु, अन्न आदि पदार्थ, रोग नाश और सब सुखों का विस्तार हो उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि उसके बिना वायु और वृष्टि जल तथा औषधियों की शुद्धि नहीं हो सकती और शुद्धि के बिना किसी प्राणी को अच्छी प्रकार सुख नहीं हो सकता। इसलिये ईश्वर ने यज्ञ करने की आज्ञा सब मनुष्यों को दी है।"

ब्राह्मण ग्रंथों और श्रौत सूत्रों की विविध जटिल याज्ञिक प्रक्रिया से स्थान पर वैदिक शास्त्रों से प्रतिपादित सरल, संक्षिप्त और व्यवहारगम्य पद्धति का निरूपण कर ब्रह्म-देव-पितृ-अतिथि और बलिवैश्वदेव नामधारी पञ्च महायज्ञों के प्रतिदिन अनुष्ठान का सविशेष समर्थन किया।

हे मनुष्यो! जो कभी देहधारी नहीं होता, जिसका कुछ भी परिमाण सीमा का कारण नहीं है, जिसकी आज्ञा पालन ही नाम स्मरण है, जो उपासना किया हुआ अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है। वेदों के अनेक स्थानों में जिसका महत्त्व कहा गया है। जो नहीं मरता, न विकृत होता न नष्ट होता, उसीकी उपासना निरन्तर करो, जो इससे भिन्न की उपासना करोगे तो उस महान पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख क्लेशों से नष्ट होगे। यजुर्वेद ३२, ३।

किसी स्थल विशेष में स्थित असामान्य स्वर्गलोक और यज्ञों से उसकी प्राप्ति को अवैदिक सिद्ध कर यज्ञीय पशुबलि को अवैदिक, निन्दनीय और घोर अत्याचार कहा। यज्ञ में पशुबलि से विविध दिव्यताओं की प्राप्ति का दावा करने वालों को महर्षि ने सबल शब्दों में कहा वे अपनी बलि से उसकी प्राप्ति क्यों नहीं करते? क्यों मूक प्राणियों की अपने स्वार्थ के लिये वेद के नाम पर बलि देते हो। गोमेध और अश्व मेधादि में प्राणियों के वध का अभिप्राय नहीं है, अपितु गो का अर्थ है इन्द्रिय, ज्ञान, सूर्य, किरण और पृथिवी अतः उसका यथोचित उपयोग ही गोमेध है। अश्व का यहाँ अर्थ है राष्ट्र और उसका सुप्रबन्ध और सुनिर्माण ही अश्वमेध कहाता है।

वेद के सम्बन्ध में महर्षि की यह सुनिश्चित धारणा थी कि मानव जाति के कल्याण के लिये ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषियों के हृदय में क्रमशः ऋग्यजु: साम और अथर्व वेद का प्रकाश किया। ये सूर्य, पृथिवी और वायुवत् मानव मात्र की सम्पत्ति है। जिनके शब्द यौगिक हैं अन्यथा वेदों में प्रकरणानुसार एक शब्द के अनेक अर्थ और विशेष्य विशेषण के रूप में आये हुए पर्यायवाची शब्दों का कोई समाधान नहीं हो सकेगा। यतोहि एक पर्यायवाची शब्द एक स्थल पर विशेष्य के साथ विशेषण रूप में प्राप्त होता है तो वही दूसरे स्थल पर उसी अर्थ में विशेष्य रूपेण भी प्राप्त होता है। अतएव वेदों में किसी जाति वर्ग का इतिहास नहीं है। वेदों में आर्य शब्द का नियम, व्रतपालक, श्रेष्ठ सज्जन तथा दस्यु, दास का सामाजिक नियमों, मर्यादाओं, व्यवस्थाओं का भंग करनेवाला, दुष्ट, दुर्जन ही अर्थ है। वे किसी विशेष जाति के वाचक शब्द नहीं हैं। क्योंकि वेदमन्त्रों में आये उनके विशेषण इस मत के पूर्ण समर्थक हैं तथा ऐसा माने बिना "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" आदि शब्दों का सुसंगत अर्थ दुष्कर है।

ऋग्, यजुः, साम और अथर्व संहिताएँ ही वेद हैं तथा ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान होने से वेद पद वाच्य नहीं है।

ये चार मूल संहिताएँ स्वतः प्रमाण और अन्य सब शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वेदाङ्ग आदि वेदानुकूल होने पर परतः प्रमाण की कोटि में आते हैं। वेद सर्वज्ञ, निर्भ्रान्त प्रभु की दिव्य वाणी होने से सब सत्य विद्याओं के पुस्तक, नित्य पुरुषकृतदोष (भ्रम, प्रमाद, लिप्सा, सीमित और मिथ्याज्ञान) से रहित हैं। अतः वेदों में बुद्धि एवं सृष्टिक्रम से विरुद्ध असम्भव बातें नहीं हैं, वे तो वैशेषिक दर्शनकार महर्षिकणाद के शब्दों में "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" ६,१,१ अर्थात् वेदों की वाक्यरचना और तत्गत ज्ञान सर्वथा बुद्धि-संगत है। वेदों में मानव व्यवहार की सिद्धि और उपकारार्थ देवगुणों से युक्त सूर्य, पृथिवी, वायु आदि तेंतीस देवों का वर्णन है, परन्तु देवों का देव होने से उपास्य केवल परमेश्वर ही है। अतः वेदों में बहुदेवतावाद का केवल ज्ञानार्थ ही वर्णन है तथा तदेवाग्निस्तदादित्यः....' यजुः ३२, २ इन्द्रं मित्रं....ऋग् १०, १०३, ४ आदि अनेक मन्त्रों में असंख्य नामों से एक परमेश्वर की ही उपासना का निर्देश है।

महर्षि ने वेदों के सत्य स्वरूप का प्रकाशन करने के लिये ब्राह्म, निरुक्त और व्याकरण आदि शास्त्रों के आधार पर प्राचीन पद्धत्यनुसार वैदिक शास्त्रानुमोदित, बुद्धिगम्य, वैज्ञानिक भाष्य किया। याज्ञिक, ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक और भाव वैज्ञानिक आदि एकांगीण भाष्य पद्धतियों का युक्ति युक्त निराकरण कर वेदों को ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान विषयों के प्रतिपादक सिद्ध किया। क्योंकि नौका, विमान, तार, विद्युत्, वैद्यक शास्त्र और धर्म-कर्म में व्यवहृत पदार्थों के ज्ञान से युक्त होने के कारण ज्ञान, ज्ञानकाण्डोक्त पदार्थों की व्यावहारिक विधि का विधान और अस्त्र-शास्त्र चालन, राष्ट्र संरक्षण संवर्धन, शत्रु विमर्दन, गोपालन और अन्नोत्पादन प्रक्रिया के व्याख्याता होने से कर्म, एकमात्र ईश्वर की शुद्ध-सत्य उपासना पद्धति ज्ञापक होने से उपासना और ज्ञान काण्डोक्त विषयों के विशेष विवेचन एवं विश्लेषण पद्धति के निरूपक होने से वेद विज्ञान काण्ड के भी ग्रन्थ हैं। अतः मानवमात्र के कल्याण का पथ एकमात्र वेद प्रदर्शित पथ ही है, क्योंकि वे सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं।

इस सत्य ग्रहण के उद्घोष की भावना के अनुसार श्री केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से प्रेरित होकर महर्षि दयानन्द ने हिन्दी को राष्ट्रिय एकता का साधन मान उसको राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने के लिये अपनी वाणी और लेखनी का व्यावहारिक माध्यम बनाया और इसकी पूर्णता एवं प्रचार-प्रसार के लिये एक आन्दोलनात्मक भावना को जन्म दे हस्ताक्षर अभियान समारम्भ किया। जबकि महर्षि की मातृभाषा गुजराती थी तथा महर्षि की प्रबल इच्छा और सर्व प्रयास था कि सब वैदिक धर्मी बनें। वेदों की भाषा संस्कृत है, पुनः उनका प्रसारक संस्कृत के स्थान पर किसी अन्य भाषा को प्रमुखता दे यह एक रहस्य ही है, जो कि महर्षि की इस देन में ही निगूढ़ है। उधर गोकरुणानिधि में धार्मिक पक्ष की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से गोरक्षा के महत्त्व का निरूपण कर, गोकृष्यादि रक्षिणी सभा, गोहत्या निरोधार्थ हस्ताक्षर आन्दोलन, रेवाड़ी में रचनात्मक गोशाला संस्थापन, वैज्ञानिक और भौतिक शिक्षा की प्राप्ति के लिये श्यामजी कृष्ण वर्मा को जर्मनी भेजना, विज्ञान और अनुसन्धान के आधार पर आर्ष ग्रंथों के पठन-पाठन का विधान आदि विविध कार्य महर्षि की अलौकिक दृष्टि, क्रान्तिकारी विचारधारा एवं इस उद्घोषणा के ही परिणाम कहे जा सकते हैं।

"सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना" महर्षि दयानन्द का यह उद्घोष हमें वेदकाल से ही घोषित होता हुआ मिलता है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ यजु १९,७७

प्रगति, कल्याण, स्वच्छ स्वस्थ स्वाधीन वायुमण्डल में विचरण के अभिलाषियो! संसार के स्वामी ने देखभाल कर सत्य और असत्य को अलग अलग कर दिया है और उस प्रजापति ने अनृत=झूठ, छल, शास्त्र या विधान विरुद्ध, निन्दनीय, पाप, अन्धकार में अश्रद्धा=अविश्वास, घृणा, निवृत्ति, परहेज़ स्थापित किया है तथा सत्य=ऋत, यथार्थ, नियम, सचाई में श्रद्धा=विश्वास, निष्ठा, अनुराग, प्रेम को संजोया है। इसीलिये ही वेद का मन्ता सब नियमों के नियामक प्रभु से प्रार्थना करता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ यजुः १, ५

हे अग्निस्वरूप! व्रतों के स्वामीन्! मैं व्रत करना चाहता हूँ, वह कर सकूं और मेरा वह व्रत पूर्ण हो कि मैं [जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में] अनृत को छोड़ कर सत्य को प्राप्त करूँ।

महर्षि को वेद प्राणसम प्रिय थे, उनके प्रत्येक सिद्धान्त और धर्म नियम का आधार एक मात्र वेद थे। अतः वेद की इन भावनाओं से अनुप्राणित होकर महर्षि ने एक दिव्य देन के रूप में यह [सत्य के ग्रहण] उद्घोषणा की। जिस को हम महर्षि की एक बहुत बड़ी विशेषता कह सकते हैं। केवल सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं अपितु उन्होंने अपने जीवन के हर व्यवहार में सर्वतोभावेन सत्य का पालन किया, और वे विषम से विषम विपदाओं में, महान् से महान् प्रलोभनों में एवं बहुविधभयों में भी सत्यपथ से विचलित नहीं हुए। यदि भाव को भर्तृहरि के शब्दों में कहें तो—

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदन्न धीराः॥

इसके साथ व्यवहारिक दृष्टिकोण से भी इस उद्घोषणा का विशेष मूल्याङ्कन है—संसार में सबसे अधिक अनर्थ, विनाश, अत्याचार, हानि, दुःख, कष्ट क्लेश, धन-जन और सम्पत्ति की बरबादी, खिलवाड़ एवं अपव्यय युद्ध, संघर्ष, वाद-विवाद ईर्ष्या, द्वेष से होता है और किसी भी कारण से इतना नहीं। विश्व के समस्त युद्धों [चाहे वह राम-रावण, कौरव-पाण्डव प्रथम-द्वितीय विश्व युद्ध आदि के रूप में किसी भी देश, जाति, वर्ग द्वारा किसी भी स्थान पर लड़ा गया कोई भी क्यों न हो], चाहे वह गली, मुहल्लों और बाजारों में होने वाला वाग्युद्ध, संघर्ष वाद विवाद क्यों न हो उन सबका एक मात्र कारण केवल और केवल दोनों पक्षों या एक पक्ष के सत्य का ग्रहण और असत्य के त्यागार्थ उद्यत न होना है अर्थात् सब अनर्थों, विनाशों और अपव्ययों का एक विशेष कारण हैं—युद्ध, संघर्ष और वाद-विवाद, और वह होता तभी है जब कोई सा भी पक्ष सत्य के ग्रहण एवं असत्य के त्याग के लिये तैयार नहीं होता। यदि हम संसार, राष्ट्र और व्यक्ति के जीवन को अनिष्टों से बचाना चाहते हैं तो प्रत्येक क्षेत्र और विषय में महर्षि के इस अमर सन्देश के स्वर्णिमसूत्र

अलौकिक दृष्टिकोण को अपनाँए अन्यथा नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय यजुः ३१, १८ सुख, शान्ति, प्रेम और प्रगति का और कोई भी मार्ग नहीं है।

प्रत्येक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समन्वय तभी असफल होता है जब समन्वय में सम्मिलित सदस्यों में से कोई भी किसी भी कारण से "सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग के लिये तैयार" नहीं होता या इस नियम का भंग करता है। आज के संयुक्त मन्त्रिमण्डलों की विफलता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

संसार में हर समझौता और पारस्परिक व्यवहार तभी सफल होता है, जब परस्पर प्रेम और विश्वास हो, तथा विश्वास केवल सत्य पर ही टिकता है। अतः पारस्परिक व्यवहार की सिद्धि के आधारभूत विश्वास की सिद्धि भी इसी स्वर्णिम सूत्र पर आधारित है।

यदि आप मुझे लिखने की आज्ञा दें तो मेरे विचार से आज के प्रगति, कल्याण और स्वाधीनता चाहने वालों को "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये" इसी दिव्य देन को ही स्वजीवन पथ का पाथेय बना चाहिये। यही प्रत्येक क्षेत्र में विकास और सफलता का रहस्य है, यही विज्ञान और अनुसन्धान का निष्कर्ष है।

'सर्वदा सत्यस्य ग्रहणम्, असत्यस्य त्यागः कार्यः"

নব ভারত-সৃষ্টিতে মহর্ষি দয়ানন্দের দান

৮

শ্রী শান্তি শর্মা
গাজিয়াবাদ

মহর্ষি দয়ানন্দ সরস্বতী উনবিংশ শতাব্দীর সর্বশ্রেষ্ঠ বিদ্বান্, ধর্ম প্রচারক, সমাজ সংস্কারক, দেশসেবক ও সর্বতোমুখী প্রতিভা সম্পন্ন ব্যক্তি ছিলেন।

সর্বশ্রেষ্ঠ বিদ্বান্

বেদের শিক্ষা ও প্রচার বিভিন্ন স্থানে বিভিন্ন ঋষি দ্বারা বিভিন্নভাবে বিস্তার লাভ করিয়াছিল। তাহাই শাখা নামে প্রচারিত। ঋষি দয়ানন্দ এইরূপ ১০২৮ শাখার কথা স্বীকার করিয়াছেন। বৌদ্ধ ও জৈন ধর্মের প্রাবল্যে সব শাখাই প্রায় লুপ্ত হইয়াছিল। সংহিতা, মন্ত্র, উপনিষদ, ব্রাহ্মণ বা উপনিষদ যাহা যেখানে পাওয়া যাইত সেগুলি শুধু যজ্ঞে ও বৈদিক কর্মকাণ্ডে ব্যবহারের জন্যই মানিয়া লওয়া হইত। বেদ সাধারণের ধরা-ছুঁয়ার বাহিরে চলিয়া গিয়াছিল। বৌদ্ধ ও জৈন প্লাবনের সম্মুখে যে সব সাহসী ও শক্তিমান পুরুষ বাধা দান করিয়াছিলেন তাঁহাদের মধ্যে শঙ্করাচার্য্য, রামানুজ, কুমারিল ভট্ট, মণ্ডন মিশ্রের নাম উল্লেখযোগ্য। তাঁহারা নাস্তিক-মতের বিরোধিতা করিয়াছেন। জনসাধারণের মধ্যে যাঁহারা বৈদিক ধর্মের প্রচারে অগ্রসর হইলেন তাঁহারা রামায়ণ, মহাভারত ও পুরাণগুলি অবলম্বন করিলেন। মহাভারতকে পঞ্চম বেদ বলিয়া ঘোষণা করা হইল। বেদ লোক-চক্ষুর অন্তরালেই রহিল। উপনিষদ, বেদান্তদর্শন ও গীতাকে প্রস্থানত্রয় ঘোষণা করিয়া ভারতের ধর্মগুরুরা ইহারই প্রচারে মনোনিবেশ করিলেন। বৌদ্ধ যুগ হইতে আরম্ভ করিয়া সপ্তম শতাব্দী পর্য্যন্ত বেদ সাধারণের আলোচনার বাহিরেই রহিল। লোক-চক্ষুর অগোচরে বেদ থাকিলেও ২৭ জন বেদ ভাষ্যকারের নাম পাওয়া যায়। তন্মধ্যে দেবস্বামী খৃষ্টীয় অব্দের পূর্বে জন্মিয়াছিলেন। সায়ণাচার্য্য (১৩৭২-১৪৪৪) চতুর্দশ হইতে পঞ্চদশ শতাব্দীর মধ্যে ঋক্, সাম ও অথর্ব বেদের ভাষ্য রচনা করেন। ইহার পূর্বে একাদশ শতাব্দীতে উবট ও পরে মহীধর সপ্তদশ শতাব্দীতে যজুর্বেদের ভাষ্য প্রচার করেন। ইঁহারা প্রচলিত প্রথা ও পৌরাণিক কথা ও কাহিনী অবলম্বনে ভাষ্য করেন। এই সব ভাষ্য জনসাধারণের

ব্যবহারযোগ্য ছিল না। পাশ্চাত্য পণ্ডিতেরা সায়ণের ভাষ্য অবলম্বন করিয়াছিলেন। উনবিংশ শতাব্দীতে মহর্ষি দয়ানন্দ সরস্বতী আর্বিভূত হইয়া যে ভাষ্য (ঋগ্বেদের ও যজুর্বেদের) লিখিয়াছিলেন তাহার বৈশিষ্ট্য সুস্পষ্ট। পৌরাণিক ও প্রচলিত প্রথার উর্দ্ধে বেদের স্থান, পাণিনির ব্যাকরণ ও যাস্কের নিরুক্ত অবলম্বনে বেদের মর্মার্থ বোধগম্য হয়—এই নীতি গ্রহণ করিয়া তিনি ভাষ্য রচনা করিয়াছিলেন। দয়ানন্দের এই প্রচেষ্টা অপরিসীম সাহস ও আশাবাদের পরিচায়ক। তিনিই সর্বপ্রথম ঘোষণা করিলেন যে বেদ আদি ধর্মগ্রন্থ। "সমগ্র মানবজাতির ইহা সাধারণ সম্পদ, বেদ কাহারও একচেটিয়া নহে। বেদের প্রচার, পঠন-পাঠন, শ্রবণ-শ্রাবণ পরম ধর্ম, স্ত্রী-শূদ্রেরও বেদাধিকার আছে।" দয়ানন্দের পূর্বে কেহই এত বড় বিপ্লবের পরিচয় দান করেন নাই, এমন কি শঙ্করাচার্য্য বা কুমারিল ভট্টও করেন নাই। দয়ানন্দ তাঁহার জীবনে সব ব্রাহ্মণ গ্রন্থ, উপনিষদ, প্রাপ্য বেদ ভাষ্যগুলি, ১৮ পুরাণ, উপপুরাণ ১৮, প্রাপ্য বৌদ্ধ ও জৈন গ্রন্থ, আস্তিক ও নাস্তিক দর্শন, বাইবেল ও কোরাণের অনুবাদ, উইলসন ও ম্যাক্স্‌মুলারের বেদানুবাদ নিজে বা অপরের সহায়তায় অধ্যয়ন করিয়াছিলেন। ইংরেজী. আরবী, পার্শী ও প্রাকৃত ভাষায় লিখিত গ্রন্থও অন্য ব্যক্তির সাহায্য লইয়া তিনি অধ্যয়ন করিয়াছিলেন। তাঁহার গ্রন্থে এই সব গ্রন্থপাঠের উজ্জ্বল প্রমাণ পাওয়া যায়। ইতিহাসে এইরূপ পাণ্ডিত্যের তুলনা পাওয়া যায় না।

ধর্ম-সংস্কারক

ঋষি দয়ানন্দ বেদকে সত্য বিদ্যার গ্রন্থরূপে মনে করিতেন। এই সত্য বিদ্যা হইতে মানব বঞ্চিত ছিল। ইহার পূর্বে শঙ্করাচার্য্য, রামানুজ, মাধবাচার্য, নিম্বার্কাচার্য্য, বল্লভাচার্য্য প্রভৃতি কেহই বেদকে সর্ব-মানবের ধর্মগ্রন্থ বলিয়া ঘোষণা করেন নাই। মহাবীর ও বুদ্ধ তাঁহাদের জৈন ধর্মের ও বৌদ্ধ ধর্মের প্রচারকালে বেদের বিরোধিতাই করিয়াছেন। চৈতন্য, নানক, দাদু, কবির, নামদেব প্রভৃতি বেদ বিষয়ে নীরবই ছিলেন। রাজারামমোহন ব্রাহ্মসমাজে উপনিষদকেই স্থান দিলেন। মহর্ষি দয়ানন্দ সরস্বতীই সর্বপ্রথম পুরুষ স্ত্রী নির্বিশেষে মানবমাত্রের জন্য বেদের অধিকার ঘোষণা করিলেন। তিনিই সর্বপ্রথমে সংস্কৃত ভাষার সঙ্গে সঙ্গে সর্বসাধারণের জন্য হিন্দী ভাষায় বেদের ভাষ্য প্রচার করেন। তাঁহার মতে ধর্মের সংস্কার কার্য্যে বেদের অবলম্বন অপরিহার্য্য। ইউরোপে উইক্লিফ ও মার্টিন লুথার সর্বসাধারণের ভাষার মাধ্যমে বাইবেল প্রচারে পুরুষার্থ প্রদর্শন করিয়াছিলেন। তাঁহাদের জীবনের সঙ্গে দয়ানন্দ জীবনের তুলনা হইতে পারে। বর্ণ ও আশ্রম ধর্মের সংস্কার, ষোড়শবিধ বৈদিক সংস্কারের পুনঃ প্রচলন, গুরুকুল স্থাপন, বেদ-মন্দির স্থাপন, শুদ্ধি প্রচলন, অস্পৃশ্যতা, জাতিভেদ ও সাম্প্রদায়িক বৈষম্যের দূরীকরণ, বাল্যবিবাহ ও বৃদ্ধ-বিবাহের প্রতিবাদ, সর্ববিধ মাদকদ্রব্যের বর্জনাদি তাঁহার ধর্মগ্রন্থের অন্তর্ভুক্ত বিষয় ছিল। এত বড় ধর্ম-সংস্কার বিষয়ের এই বিরাট পরিকল্পনা অন্যত্র বিরল।

হিন্দী প্রচার

ঋষি দয়ানন্দ কোন ভাষারই বিরোধী ছিলেন না। মাতৃ ভাষাকে অবহেলা করিয়া পার্শি, আরবী বা ইংরেজী ভাষা গ্রহণের তিনি বিরোধী ছিলেন। ভারতীয় জনসাধারণের মধ্যে একটি সাধারণ ভাষার প্রয়োজনীয়তাও তিনি অনুধাবন করিয়াছিলেন। ধর্ম প্রচার ক্ষেত্রে সর্বসাধারণের মধ্যে হিন্দী অবলম্বন করিতে তিনি কেশব সেন ও বিদ্যাসাগরের অনুরোধ সাদরে গ্রহণ করিয়া হিন্দী ভাষাকে তিনি জাতীয় ভাষার রূপদান করিয়াছিলেন। হিন্দী ভাষাকে তিনি ধর্মপ্রচারের ও সর্বসাধারণের সর্বকার্যের ভাষা বলিয়া গ্রহণ করিয়াছিলেন। গ্রন্থাদিতে তিনি হিন্দীকে সর্বোচ্চ স্থান

দিয়াছিলেন। ইহার বহুদিন পরে মহাত্মা গান্ধী প্রভৃতি রাজনীতিক নেতারা হিন্দীকে জাতীয় ভাষারূপে ঘোষণা করিয়াছিলেন। আজ হিন্দীর ব্যাপক প্রচারে বহু নেতা আপ্রাণ চেষ্ট করিতেছেন, হিন্দীর মর্য্যাদা সু প্রতিষ্ঠিত করার জন্য যে সর্বতোভাবে ত্যাগ ও কষ্ট বরণ করিতেছেন ইহার মূলে দয়ানন্দের দান স্বীকার্য।

স্বদেশী বস্তুর সমাদর

দয়ানন্দ জন্মিয়াছিলেন ইষ্ট ইণ্ডিয়া কোম্পানীর আমলে। তখন বিদেশের মিহি কাপড় ভারতবর্ষের বাজার ছাইয়া ফেলিয়াছে। "মায়ের দেওয়া মোটা কাপড়" তখন ঘৃণার বস্তু হইয়া দাঁড়াইয়াছে। চরকা ইংরেজের অত্যাচারে লুপ্ত হইতেছিল, যাহা ছিল তাহাও অনাদৃত। এই অবস্থার মধ্যে তিনি স্বদেশী কাপড়, চরকায় কাটা মোটা কাপড়ই পরিধান করিতেন। মহর্ষি দেবেন্দ্রনাথ তাঁহাকে অতি মিহি মানচেষ্টাবের একজোড়া ধুতি কাপড় অতি শ্রদ্ধার সহিত উপহার দিলে তাহা তিনি অতি শ্রদ্ধার সহিতই প্রতাখ্যান করিয়াছিলেন। যুক্তি দেখাইলেন ইহা দেশের মা-বোনদের হাতে কাটা সূতার নহে। বরাহনগরের নাইনান উদ্যান-ভবনে থাকা কালীন তিনি দেবেন্দ্রনাথ, শৌরীন্দ্রনাথ ও কেশবসেন প্রদত্ত বিদেশী কাপড়ের বিছানা পরিত্যাগ করিয়া সাধারণ মাদুর ও চাটাই ব্যবহার করিয়াছেন। গোরাচাঁদা দত্তের বাড়ীতে সভা গৃহে বিদেশী ছবি অঙ্কিত ছিল তিনি তাহাও অপসারণ করিতে বাধ্য করিয়াছিলেন। স্বদেশী বস্তুর প্রতি এই রূপ অনুরাগ ও বিদেশী বস্তুর প্রতি বিতৃষ্ণা তাঁহার মধ্যে ছিল অত্যধিক। ১৯০৫ খৃষ্টাব্দের বঙ্গ-ভঙ্গ আন্দোলন ও দিদেশী বর্জন আন্দোলনের সময় ররীন্দ্রনাথ দয়ানন্দের স্বদেশী বস্তুর প্রতি অনুরাগের কথা কালীকণ্ঠ কাব্যবিশারদকে বলিয়াছিলেন।

রাজনীতিক সংস্কার

সিপাহী বিদ্রোহের ১১ বৎসর পূর্বে ১৮৪৬ খৃষ্টাব্দে দয়ানন্দ পিতৃগৃহ পরিত্যাগ করেন। দেশের নানা স্থানে যোগবিদ্যার সন্ধানে পরিভ্রমণ করিয়া সিপাহী বিদ্রোহের তিন বৎসর পরে ১৮৬০ খৃষ্টাব্দে দয়ানন্দ মথুরায় স্বামী বিরজানন্দ সরস্বতীর নিকট বেদ বিদ্যা লাভের জন্য উপনীত হন। এই সুদীর্ঘ ১৪ বৎসর কাল তিনি দেশের সর্বত্র পাহাড়ে পর্বতে, বনে জঙ্গলে, নগরে-পল্লীতে, হাটে মাটে ঘাটে পরিভ্রমণ করিয়া ভারতের ধর্ম, সমাজ ও রাষ্ট্রকে প্রত্যক্ষ করিয়াছিলেন। তিনি নানা স্থানে ধর্মের নামে অধর্ম দেখিয়া বিস্মিত হইয়াছিলেন। সামাজিক কুসংস্কারের জঘণ্য স্বরূপ দেখিয়া তিনি ব্যথিত হইয়াছিলেন। অর্থাভাব, কুশাসন, দারিদ্র্য দেখিয়া তিনি দীর্ঘ নিঃশ্বাস পরিত্যাগ করিতেন। এক দিকে ধনাঢ্য ব্যক্তিদের বিলাসিতার প্রাবল্য, অন্য দিকে অন্নাভাব ও রোগের দুঃসহ যন্ত্রণা তিনি স্বচক্ষে দর্শন করিয়াছিলেন। ভারতীয় জনগণের মধ্যে বিদেশীর শৃঙ্খল মোচনের প্রচেষ্টা, শাসনের নামে বিদেশীদের অমানুষিক অত্যাচার, সিপাহী বিদ্রোহের পূর্বাপর ভয়াবহ দৃশ্য ও দেশবাসীর উপরে দুঃসহ অত্যাচারের করুণ দৃশ্য তিনি স্বচক্ষে দর্শন করিয়াছিলেন। তাঁহার স্বচ্ছ হৃদয়ে অতীত ভারতের স্বাধীনতার দৃশ্য প্রতিবিম্বিত হইয়াছিল। তাঁহার বক্তৃতার মধ্যে ও গ্রন্থের মধ্যে তাহার প্রত্যক্ষ পরিচয় পাওয়া যায়। সমগ্র ভারতের পরিভ্রমণের মধ্য দিয়া তিনি প্রকৃত ভারতবর্ষের রূপ দর্শন করিয়াছিলেন। ভারতের ধর্ম, কর্ম, রীতি নীতি, আচার ব্যবহার, প্রজা জনসাধারণের জীবনযাত্রা, ইষ্ট ইণ্ডিয়া কোম্পানির শাসন ও শোষণ, দরিদ্রগণেব অসহায় অবস্থা, বিদেশী ফৌজের অবাধ অত্যাচার, জমিদার ও দেশী রাজন্যগণের বিলাসিতা ও অসংযম তাঁহার হৃদয়ে নরকের দৃশ্য অঙ্কিত করিয়াছিল। এই সমস্যার সমাধান কোথায় ? তাঁহার মনে আসিল দেশীয় রাজন্যগণ যখন শ্রীকৃষ্ণ ও শ্রীরামচন্দ্রকে পূর্ব পুরুষে বলিয়া ঘোষণা করেন এবং প্রজাশাসন ও রাজ-

নীতি লইয়াই যখন তাঁহারা জীবন যাত্রা নির্বাহ করেন এবং প্রজা সাধারণ যখন রাজনীতি বুঝিতেই পারেনা তখন এই দেশীয় রাজন্যগণকে শোধন করিতে হইবে। তাঁহাদের মধ্যে পূর্বপুরুষদের প্রতি গৌরব বুদ্ধি জাগাইয়া তুলিতে হইবে। এই ভাব লইয়াই তিনি উদয়পুর, যোধপুর, শাহপুরাদি রাজন্যগণের মধ্যে রাজধর্মের উপদেশ দিতে থাকেন, প্রাচীন রাজনীতির জ্ঞান দিতে থাকেন। পরাধীন ভারতকে স্বাধীনতা লাভের জন্য যাঁহারা বহু পূর্ব হইতেই প্রেরণা জোগাইয়াছেন তাঁহাদের মধ্যে মহাপ্রাণ পুণ্য শ্লোক মহর্ষি দয়ানন্দ সরস্বতীর নাম বিশেষ রূপে উল্লেখ যোগ্য। রাজনীতি ক্ষেত্রে, কি সমাজ সংস্কার ক্ষেত্রে এমন কি ধর্ম সংস্কার ক্ষেত্রে তাঁহাকে অবদানের তুলনা নাই। স্বতন্ত্র ভারতে এখনও সম্পূর্ণ চেতনা ফিরিয়া আসে নাই। যতই দিন যাইবে ততই এই নির্ভীক, ত্যাগী ও বেদজ্ঞ সন্ন্যাসীর দূরদর্শিতা ও ভবিষ্যদ্ বাণীর কথা ভারত বুঝিতে পারিবে।

রাজনীতি-ক্ষেত্রে

১৮৮৫ খৃষ্টাব্দ কংগ্রেসের জন্ম। ইহার ঠিক ২৮ বর্ষ পূর্ব্ব হইতে মহর্ষি দয়ানন্দ তাঁহার মৃত্যু কাল পর্য্যন্ত (১৮৮৩) এই দীর্ঘ কাল তিনি যাহা যাহা উপদেশ ও বক্তৃতার মধ্যে ভারতের প্রধান প্রধান স্থানে প্রচার করিয়া ছিলেন, বারানসীর ডেপুটি ম্যাজিষ্ট্রেট্ ভক্ত রাজা জয়কিষণদাসের সনির্বন্ধ অনুরোধে তাহাই লিপিবদ্ধ করিয়া তিনি সত্যর্থপ্রকাশ গ্রন্থ রচনা করিয়াছিলেন (১৮৭৪)। ১৮৭৫ খৃষ্টাব্দ বারানসীর ষ্টারপ্রেস হইতে এই গ্রন্থের প্রথম সংস্করণ মুদ্রিত হইয়াছিল। সে আজ প্রায় শত বর্ষ পূর্ব্বের কথা। শতাধিক পূর্ব্বেই মহর্ষি দয়ানন্দের হৃদয়ে পরাধীনতার অসহনীয় বেদনা কিরূপ তীব্র হইয়াছিল, পরাধীনতার কারণগুলি কি কি এবং তাহার প্রতীকারের উপায়গুলিই বা কি কি তাঁহার এই অমরগ্রন্থ সত্যার্থপ্রকাশে তাহা সুস্পষ্ট রূপে প্রকাশিত হইয়াছে। ইহার কিয়দংশ নিম্নে প্রদত্ত হইল—

"ইক্ষ্বাকু বংশীয় রাজারা আর্য্যাবর্ত্তে প্রথম রাজ্য করিতেন। তাঁহারাই আর্য্যাবর্ত্ত স্থাপন করিয়াছিলেন। এখন দুর্ভাগ্য বশতঃ আর্য্যগণের আলস্য, প্রমাদ, পরস্পরের বিরোধ হেতু অন্যান্য দেশে রাজ্য করা ত দূরের কথা আর্য্যাবর্ত্তেও আর্য্যগণের অখণ্ড স্বতন্ত্র, স্বাধীন ও নির্ভয় রাজ্য এখন আর নাই। যাহা কিছু কিছু আছে তাহাও বিদেশীদের পদাক্রান্ত হইতেছে। কয়েকটি মাত্র রাজা অবশিষ্ট আছেন যাঁহারা স্বতন্ত্র। যখন দুর্দ্দিন আসে তখন দেশবাসীকে নানা রূপ দুঃখ ভোগ করিতে হয়। যিনি যতই করুন স্বদেশের রাজ্যই হয় সর্ব্বোত্তম। অপর পক্ষে বিভিন্ন মতমতান্তরে উদাসী, আপন পর পক্ষপাতশূন্য, প্রজাগণের প্রতি মাতাপিতার সমান কৃপা, ন্যায় ও দয়াযুক্ত বিদেশী রাজ্যও পূর্ণরূপে সুখদায়ক নহে।"

(সত্যার্থপ্রকাশ, অষ্টম সমুল্লাস)।

"দেশদেশান্তরে ও দ্বীপদ্বীপান্তরে রাজ্যস্থাপন বা ব্যবসায় না করিলে কি স্বদেশের উন্নতি হইতে পারে? যখন স্বদেশেই মাত্র স্বদেশের লোকেরা কাজকর্ম করে ও বিদেশীরা স্বদেশে কাজ করে বা রাজ্য করে তখন দারিদ্র্য ও দুঃখ ছাড়া আর কিছুই হইতে পারে না।"

"যে পর্য্যন্ত এক-মত, এক হানি-লাভ, এক সুখ-দুঃখ বোধ না জাগিবে সে পর্য্যন্ত উন্নতি হওয়া খুবই কঠিন। পরন্তু কেবল পানাহার এক হইলেই সংস্কার হইতে পারে না। পরন্তু যে পর্য্যন্ত কদভ্যাস পরিত্যাগ না করিবে ও সদভ্যাস গ্রহণ না করিবে তত দিন উন্নতির বদলে অবনতিই হইবে। আর্যাবর্ত্তে বিদেশীদের রাজ্য স্থাপনের ফলে নিজেদের মধ্যে বিভেদ......ভ্রাতৃবিরোধ যতদিন থাকবে, ততদিন বিদেশী সালিসী করিতে থাকবে। তোমরা কি মহাভারতের কথা ভুলিয়া গিয়াছে? পাঁচ হাজার বর্ষ পূর্বে ইহা ঘটিয়াছিল।

মহাভারতের যুদ্ধকালে সকলে পরস্পর মিলিয়া পান ভোজন করিত। নিজেদের মধ্যে বিভেদ সৃষ্টি হওয়ায় কৌরব, পাণ্ডব ও যাদবগণের সর্বনাশ ঘটিয়াছিল। অতীতে যাহা ঘটিয়াছে, তাহা ঘটিতেছেই। কিন্তু আজ পর্য্যন্ত সেই ব্যাধি আছেই। জানি না এই ভয়ঙ্কর রাক্ষস কখনও ছাড়িবে কি না কিংবা আর্য্যদিগকে সর্বসুখ হইতে বঞ্চিত করিয়া ডুবাইয়া মারিবে। সেই দুষ্ট, স্বজনহন্তা, স্বদেশের সর্বনাশকারী, নীচ দুর্য্যোধনের দুষ্ট পন্থা অনুসরণ করিয়া, আজও আর্য্যগণ দুঃখ বাড়াইয়াই চলিতেছে। ভগবান কৃপা করুন, এই রাজ-রোগ আর্য্যগণের মধ্য হইতে দূরীভূত হওক।"

(সত্যার্থ প্রকাশ, দশম সমুল্লাস)

"এই আর্য্যাবর্ত্ত দেশের ন্যায় ভূমণ্ডলে আর কোন দেশই নাই। এই জন্যই এ দেশের নাম সুবর্ণভূমি। কেননা এখানে সুবর্ণাদি রত্নের উৎপত্তি হয়। এই জন্যই সৃষ্টির আদিতে আর্য্যগণ এই দেশে আসিয়া বসতি স্থাপন করিয়াছিল। আর্য্য ভিন্ন অন্য মনুষের নাম দস্যু। ভূমণ্ডলের সব দেশই এই দেশের প্রশংসা করে ও সাহায্য আশা করে। স্পর্শমণির কথা শুনা যায় কিন্তু তাহা মিথ্যা। আর্য্যাবর্ত্ত দেশই প্রকৃত আদর্শ মণি। ইহার স্পর্শেই লৌহ তুল্য বিদেশী সুবর্ণ অর্থাৎ ধনাঢ্য হইয়া যায়।" "সৃষ্টি হইতে আরম্ভ করিয়া পঞ্চ-সহস্রে বর্ষ পূর্ব পর্য্যন্ত আর্য্যগণের সারভৌম চক্রবর্ত্তী রাজ্য ছিল অর্থাৎ পৃথিবীতে সর্বোপরি একমাত্র রাজ্য ছিল। অন্যান্য দেশে মাণ্ডলিক অর্থাৎ ক্ষুদ্র ক্ষুদ্র রাজ্যের রাজারা ছিল। কুরুপাণ্ডব পর্য্যন্ত এখানের রাজ্যের ও রাজশাসনের অধীনেই পৃথিবীর অন্য সব রাজারা ছিল।"

(সত্যার্থপ্রকাস, একাদশ সমুল্লাস)।

মহর্ষি দয়ানন্দের গ্রন্থের এই সব উদ্ধরণ হইতেই বোধগম্য হয় যে তাঁহার দেশপ্রেম ছিল কত প্রবল। পরাধীনতার জ্বালা তিনি কিভাবে তাঁহার হৃদয়কে ব্যথিত করিয়াছিল। তাঁহার বক্তৃতায় ও গ্রন্থে তিনি একশতাব্দী পূর্বে এই ভাবে জনগণের মধ্যে দেশাত্ম বোধ জাগাইতে চেষ্টা করিয়াছিলেন। দেশীয় রাজন্য-গণের মধ্যে মনু, ভর্ত্তৃহরি, বিদুর ও চাণক্যের রাজ-নীতির মর্ম্ম বুঝাইয়াই তিনি কর্ত্তব্যের পরিসমাপ্তি করেন নাই। দেশীয় রাজন্যগণের সঙ্গে জনসাধারণের কোন যোগাযোগ নাই তাহাও তিনি বুঝিয়াছিলেন।

বঙ্গ দেশের সমাজ সংস্কার আন্দোলনকে তিনি শ্রদ্ধার দৃষ্টিতে দেখিয়াছিলেন। কাশী শাস্ত্রবিচারে বিজয় লাভের পর ব্যারিষ্টার চন্দ্রশেখর সেন, পণ্ডিত সত্যব্রত সামশ্রমী ও মহর্ষি দেবেন্দ্রনাথ ঠাকুরের আমন্ত্রণে তিনি কলিকাতায় আসিয়াছিলেন। ধর্মের ভিত্তিতে তিনি কোন প্রতিষ্ঠান গড়িতে চাহিয়াছিলেন। বৈদিক পাঠশালা স্থাপনের উদ্দেশ্য ও তিনি পোষণ করিতেন। বোম্বায়ের প্রার্থনাসমাজ ও কলিকাতার ব্রাহ্মসমাজের দিকে তিনি বহু আশা পোষণ করিয়াই দৃষ্টিপাত করিয়াছিলেন। পৃথক কোন প্রতিষ্ঠান স্থাপন করা তাঁহার উদ্দেশ্য ছিল না। ব্রাহ্মসমাজের মাধ্যমে তিনি ধর্মপ্রচার করিতে ইচ্ছা প্রকাশ করিয়াছিলেন। ব্রাহ্মসমাজও এই রূপ একজন সন্ন্যাসী একেশ্বরবাদী পাইয়া বহু আশা পোষণ করিয়াছিলেন। কিন্তু পরে আলোচনায় জানা গেল—ব্রাহ্ম সমাজ বেদের অপৌরুষেয় স্বীকার করিবেন না ও জন্মান্তর সম্বন্ধে নিশ্চিত সিদ্ধান্ত গ্রহণ করিবেন না। এই খানেই উভয় পক্ষের আশা বিলীন হইয়া গেল।

ঈশ্বরচন্দ্রবিদ্যাসাগর দয়ানন্দকে পৃথক্ কোন প্রতিষ্ঠান স্থাপন করিতে পরামর্শ দিলেন। তাহারই ফলে নানা স্থান ভ্রমণ করিয়া তিন বৎসর পর তিনি রাজকোটে ও বোম্বাইতে আর্য্যসমাজ স্থাপন করিলেন। ২ বৎসর পরে ১৮৭৭ খৃষ্টাব্দে লাহোরে আর্যসমাজ স্থাপনকালে মহর্ষি দয়ানন্দের নেতৃত্বে আর্য্যসমাজের

দশ নিয়ম ও চল্লিশটি উপনিয়ম গৃহীত হয়। ইহাতে অপূর্ব রাজনীতির পরিচয় পাওয়া যায়। রায় বাহাদুর লালা মূলরাজ এম-এ, পি আর-এস লাহোর সভায় প্রথম সভাপতি নির্ধারিত হইয়াছিলেন। প্রায় ছয় বৎসর কাল শুধু আর্য্যসমাজের দশ নিয়ম মানিলেই আর্য্যসমাজ ভুক্ত হওয়া যাইত। মহর্ষি দয়ানন্দ তাঁহার মৃত্যুর পূর্বে পরোপকারিণী সভা স্থাপন করিয়া তাঁহার জীবনের কার্য্য ভার অর্পণ করেন। তাঁহার মৃত্যুর পরে ১৮৮৩ খৃষ্টাব্দের ডিসেম্বরের অধিবেশনে পরোপকারিণী সভায় স্থির হয়—আর্য্য সমাজের সদস্য হইতে গেলে মহর্ষি দয়ানন্দের বেদভাষ্য ও গ্রন্থাবলীকে অভ্রান্ত বলিয়া স্বীকার করিতে হইবে। মহর্ষি দয়ানন্দের জীবনকালে কেবল দশ নিয়ম স্বীকার করিলেই আর্য্য সমাজের সদস্য হইয়া যাইত। এই বিষয় লইয়া আর্য্যসমাজের মধ্যে মত বিরোধের সৃষ্টি হয়। ১৮৮৫ খৃষ্টাব্দে কলিকাতার প্রথম আর্য্য সমাজ স্থাপিত হওয়ার পরেই এই প্রশ্ন উত্থাপিত হইয়াছিল। ইহারই ফলে বহু বাঙ্গালী শিক্ষিত গণ্য মান্য ব্যক্তি আর্য্য সমাজ পরিত্যাগ করেন। আজিও তাহার ফলে বাঙ্গালী আর্য্যসমাজের দয়নীয় স্থিতির মধ্যে উপলব্ধি হয়।

বোম্বাইতে আর্য্যসমাজ স্থাপনের (১৮৭৫) ১০ বৎসর পরেই বোম্বাইতে কংগ্রেসের জন্ম হয়। তখনে আর্যসমাজের অপ্রত্যক্ষ প্রভাব পরিলক্ষিত হইয়াছিল। স্যর সুরেন্দ্রনাথ তাঁহার স্বদেশী বক্তৃতার মধ্যে এই কথা ব্যক্ত করিয়াছিলেন। আমরা স্বর্গীয় বিপিন চন্দ্রপাল ও স্বর্গীয় রামানন্দ চট্টোপাধ্যায়ের মুখে কলিকাতা আর্য্যসমাজ অনুষ্ঠিত ১৯২৫ খৃষ্টাব্দের জন্মাষ্টমী উৎসবের বক্তৃতায় একথা শুনিয়াছি। তাই মনে হয়—নব ভারতের উন্মেষের ও জাগরণের মূলে মহর্ষি দয়ানন্দের ও আর্য্যসমাজের দান স্বল্প নহে। স্বাধীন ভারতের নরনারী ভবিষ্যতের দিকে যতই অগ্রসর হইবে ততই ইহা বুঝিতে পারিবে, কোন উচ্চ পর্বতের সন্নিকটে দাঁড়াইয়া তাহা বুঝা যায় না। যতই দূরে যাওয়া যাইবে ততই পর্বতের বিরাটত্ব উপলব্ধিতে আসিবে।